लोक-वार्ता एवं लोक-साहित्य

प्रयोग की समस्या

'लोक-वार्ता' अंग्रेजी के 'फोकलोर' (Folklore) शब्द का पर्यायवाची है। हिन्दी में इसके प्रचार का अधिकांश श्रेय श्री कृष्णानन्द गुप्त एवं डॉ॰ वासुदेवशरण अग्रवाल को है। जिस प्रकार 'फोक' का हिन्दी पर्याय 'लोक' कहीं अधिक विस्तारार्थी है, उसी भाँति 'लोक-वार्ता' शब्द 'फोकलोर' से अधिक विस्तृत भावों को वहन करता है।

'लोर' (lore) शब्द "ऐंग्लो सेक्सन lar से निकला है और इसका अर्थ होता है वह जो सीखा जाय। इस प्रकार 'फोकलोर' का शाब्दिक अर्थ 'असंस्कृत लोगों का ज्ञान' है।"

पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार स्थूल रूप से समाज दो वर्गों में विभक्त है—एक उच्च वर्ग और दूसरा निम्न वर्ग। इसी निम्न वर्ग में सर्व-सामान्य जनता की संस्कृति, परम्परागत विश्वास, किंवदन्तियाँ, आचार विचार, रीति, कथाएँ, कहावतें, इत्यादि मिलते हैं। सभ्य जातियों में उपलब्ध होने वाले असभ्य काल के इन्हीं विश्वासों, रूढ़ियों, धर्मों, अथवा भावनाओं, कथाओं, गीतों, कहावतों आदि को देखकर कदाचित् डब्लू॰ जे॰ थामस ने ई॰ स॰ १८४६ में प्रथम बार 'फोकलोर' शब्द का प्रयोग किया।[1]

---

[1] एन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन ऐण्ड एथिक्स जि॰ ६ पृष्ठ ४४८

ठीक इसी वर्ष अगस्त मास में विलियम थॉम ने शब्द ने 'फोकलोर' शीर्षक लेख प्रकाशन के लिए प्रेषित किया जो यूरोप अनेक भाषाओं में हेर-फेर के साथ उद्धृत किया गया। इसी शब्द वाच्यार्थ 'लोक-ज्ञान' अथवा 'लोक-विद्या' भी है। किन्तु हिन्दी 'लोक-वार्ता' विशेष रूप से प्रचलित है। सन् १६१ में श्री म पोतदार ने मराठी में 'फोकलोर' के लिए 'लोक-विद्या' शब्द था, जो अधिक प्रचार में न आ सका। श्री गो० म० कालेलकर ने दन्त-कथा' का प्रयोग किया एवं मराठी के पारिभाषिक शब्द 'जनश्रुति' शब्द उपलब्ध है। 'फोकलोर' के लिए लोक-व अथवा 'लोक-साहित्य' शब्दों का प्रयोग भी प्रायः भूल से किया जाता चूँकि पर्याय का निश्चित स्वरूप निर्धारित नहीं हो सका है, अत समय पर इसी प्रकार के प्रयोग सम्मुख आते रहेंगे। जहाँ तक मराठी प्रश्न है श्री चि ग कर्वे ने 'लोक-विद्या' शब्द ही प्रचलित करने आग्रह किया है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने हिन्दी में वैष्णवी 'वार्ता' सम्बन्धी ग्रन्थों के अनुरूप (८४ वैष्णवों की वार्ता, भक्त वार्ता, आदि 'फोकलोर' का 'लोक-वार्ता' पर्याय स्वीकार किया है। इस विषय में म चिन्तन-वेत्ता श्री भोलानाथ तिवारी ने हाल ही में अपने विचार लिखे हैं। उनके मतानुसार 'लोक-वार्ता' में अधिक-से-अधिक 'लोक-कथा' भाव वहन करने की क्षमता है। (बंगला में 'बारता' अथवा 'बार्ता' प्रयोग कथा के अर्थ में ही होता है।) संस्कृत-साहित्य में इसी शब्द का 'अफवाह' या 'किंवदन्ती' है (संस्कृत शब्दार्थ-कौस्तुभ, द्वा० प्र शर्मा।) संस्कृत कोषकार श्री आप्टे ने 'लोक-वार्ता' का अर्थ रिपोर्ट' या 'पब्लिक रूमर' दिया है। इसी शब्द के लिए 'लो संस्कृति' का प्रयोग डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने किया है जो 'फोकल का पर्याप्त आशय व्यक्त नहीं करता है। श्री तिवारी की डॉ० सुनीतिकुम चाटुर्ज्या द्वारा प्रयुक्त 'लोकायन' (फोकलोर) के लिए विशेष आग्रह है। सुनीति बाबू के शब्दों में "पितृ-परम्परागत जीवन-यात्रा की पद्धति ("

अनुष्ठानों, विश्वास-विचारों तथा वाङ्मय से अपने लौकिक को प्राप्त करती है उन्हें अंग्रेजी में 'फोकलोर' कहते हैं। इस शब्द ... प्रतिशब्द हमने 'लोकायन' भी बना लिया है।"[1] 'फोक-के लिए वैसे लोक-शास्त्र, लोक-विज्ञान, लोक-परम्परा, लोक-लोक-प्रवाह, लोक-पथ लोक-विधान, लोक-संग्रह, लोक-प्रयन, शब्दों की ओर भी श्री तिवारी ने संकेत किया है, किन्तु आग्रह ... के प्रति ही है।[2]

लोक-वार्ता शब्द हिन्दी में क्रमशः अपना स्थान निर्धारित कर ... । नवीन शब्दों के सुझाव और आग्रह से 'लोक-वार्ता' के प्रति ... हैं आस्था कम नहीं हो सकती। कुछ वर्ष पूर्व श्री कृष्णानन्द ... तत्वावधान में प्रकाशित 'लोक-वार्ता' त्रैमासिक ने इसकी जड़ें ... कर दी हैं और आधुनिक साहित्य की नवीन रचनाओं में इसका ... प्रयोग इसके अस्तित्व को स्थायित्व प्रदान करने में सफल हुआ ... सुविधा के लिए 'फोकलोर' के लिए हम 'लोक-वार्ता' शब्द ... करेंगे।

ता एक शास्त्र है

... शताब्दी के मध्य में पाश्चात्य विद्वानों ने पिछड़ी जातियों के ... के प्रति अन्वेषण कार्य आरम्भ किया। प्राचीन भारतीय वाङ्मय, ... विज्ञान का विकास, भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन, पंचतन्त्र, ... देश, आदि भारतीय नीति-कथा-साहित्य के महत् ग्रन्थों का अन्य ... की कथाओं से पारस्परिक सम्बन्ध, आदि की ओर विद्वानों की दृष्टि ... ज्यों-ज्यों भाषा विज्ञान समाज-विज्ञान, तत्त्व-शास्त्र जैसे विषयों ... विकास होने लगा; लोक-वार्ता को क्रमशः एक विज्ञान का रूप प्राप्त होता

राजस्थानी कहावतें (भाग—१), १० १ कलकत्ता पु...

सम्मेलन पत्रिका (लो० सं० वि०) लोकायन और लोक-स...

पृष्ठ ११६

गया, क्योंकि उक्त विषयों की अधिकांश सामग्री लोक-वार्ता से ही सम्बन्धित है। लोक-वार्ता का स्वतन्त्र अस्तित्व है। यह एक शास्त्र है और उसका व्यवस्थित रूप से अध्ययन होना चाहिए, यह निश्चित होने में अधिक समय नहीं लगा। सन् १८४८ में विल्हेम हेरिचरी ने उक्त सभी विषयों में समन्वय स्थापित करके मनुष्य की भाषा, रहन-सहन, आचार विचार, जाति-सम्बन्धी विशिष्टता, आदि का उसमें समावेश करने के लिए विशेष आग्रह किया। सन् १९ ८ में जी० एल० गोम ने 'फोकलोर एज ए हिस्टारिकल साइन्स' ग्रन्थ लिखकर इस बात का प्रतिपादन किया कि लोक-वार्ता इतिहास का स्वतन्त्र विषय है, जिसके अपने नियम और सिद्धान्त हैं उसकी मान्यताओं को अन्य शास्त्रों की मान्यताओं की भाँति अपनाना चाहिए। परिणामतः विद्वानों ने पूर्णरूपेण गोमे की स्थापनाओं का स्वागत नहीं किया, किन्तु नृतत्व-शास्त्र के क्षेत्र में लोक-वार्ता का भी अपना महत्त्व है, यह स्वीकार कर लिया। सन् १९.२ में आर० आर० मैरेट का 'साइकोलॉजी एण्ड फोकलोर' ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। उसने लिखा है कि लोक-वार्ता का केवल समाज शास्त्रीय पक्ष ग्रहण करना एकांगी दृष्टिकोण है। उसका मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी अध्ययन किया जाना चाहिए, क्योंकि लोक-वार्ता निर्जीव विज्ञान नहीं है। बाह्य रूप से अध्ययन जितना आवश्यक है उतना ही उसका आन्तरिक पक्ष भी अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण विषय है।

गतिशील विकास

लोक-जीवन की धारा सदैव प्रवहमान है। परम्पराएँ प्रचार-देश में बद्ध नहीं होतीं। वे नये रूपों में प्रकट हो 'लोक' के बीच में गया अमर बनी रहती हैं। युगों से अनन्त धारों और व्यापक जन के मध्य लोक-भावना की गंगा बह रही है। किसी समय-विशेष में ही लोक-वार्ता का जन्म नहीं होता। वह सर्वकालीन, सर्वदेशीय और सर्वसम्मत है। शिक्षा व शिक्षा ने इसे असत्य प्रमाणित किया है। शिक्षित जन के अतिरिक्त अशिक्षित, [illegible]

और रूढ़िवादी जन में उसका अस्तित्व गहरा है। समग्र रूप से लोक-वार्ता लोक-मान का विषय है। 'लोक' की अपरिमित शक्ति, साहस, मनोभाव, मान्यतायें, विश्वास, राग-द्वेष, परम्परायें, अखाड़े, टोने-टोटके, अनुष्ठान, रीति-रिवाज, परम्परायें, गीत-कथायें, वेश-भूषा, आदि संयुक्त रूप से लोक-वार्ता के चेतन अस्तित्व की घोषणा करते हैं। बोटकिन ने कहा है—

"Folklore is not something far away and long ago but real and living among us."

(लोक-वार्ता अत्यधिक दूर और अत्यन्त प्राचीन कोई वस्तु नहीं है वह तो हमारे मध्य सत्य और जीवित है।)

क्योंकि— Here the past has something to say to the present and bookless world to a world that likes to read about itself concerning our basic oral and democratic culture as the root of arts and as a side-light on history "[1]

(यहाँ भूतकाल को वर्तमान से और पुस्तकहीन समाज को उस समाज से कुछ कहना है जो अपने ही विषय में पढ़ना चाहता है, जिसका सम्बन्ध हमारे मौलिक और लोकतान्त्रिक संस्कृति की मूल कलाओं के प्रारम्भिक रूपों और इतिहास के एक अंग के प्रकाश से है।)

लोक-वार्ता में लोक की परम्परागत भावनायें एवं चेतनागत सभी अभिव्यक्तियों का लेखा-जोखा निहित है। अतः लोक-वार्ता केवल प्राचीन, अवशेष मात्र रूढ़ियों का अध्ययन ही प्रस्तुत नहीं करता वरन् जीवित लोक-मनों, लोकाभिव्यक्तियों एवं उनकी प्रवहमान प्रक्रियाओं का भी अध्ययन करता है।

लोक-वार्ता का विस्तार

लोक-वार्ता के विस्तार के सम्बन्ध में सी एस० बर्न के एक उद्धरण के अनुसार डॉ० सक्सेना ने इस प्रकार किया है—"यह एक जातिबोधक

---

[1] अमेरिकन फोकलोर (पाकेट बुक) की भूमिका, पृष्ठ १६

शब्द की भाँति प्रतिष्ठित हो गया है जिसके अन्तर्गत पिछड़ी जातियों में प्रचलित अथवा अपेक्षाकृत समुन्नत जातियों के असंस्कृत समुदायों में अवशिष्ट विश्वास, रीति-रिवाज, कहानियाँ, गीत तथा कहावतें आती हैं। प्रकृति के चेतन तथा जड़ जगत् के सम्बन्ध में, भूत प्रेतों की दुनिया तथा उसके साथ मनुष्यों के सम्बन्धों के विषयों में, जादू, टोना, सम्मोहन, वशीकरण, ताबीज, भाग्य, शकुन, रोग तथा मृत्यु के सम्बन्ध में आदिम तथा असभ्य विश्वास इसके क्षेत्र में आते हैं। और भी इसमें विवाह, उत्तराधिकार, बाल्यकाल तथा प्रौढ़ जीवन के रीति-रिवाज तथा अनुष्ठान और त्योहार, युद्ध, आखेट, मत्स्य-व्यवसाय, पशु-पालन आदि विषयों के भी रीति रिवाज और अनुष्ठान इसमें आते हैं तथा धर्म-गाथाएँ, अवदान (लीजेण्ड), लोक-कहानियाँ, साके (बैलेड), गीत, किंवदन्तियाँ, पहेलियाँ तथा लोरियाँ भी इसके विषय हैं। संक्षेप में लोक की मानसिक सम्पन्नता के अन्तर्गत जो भी वस्तु आ सकती है वह सभी इसके क्षेत्र में है। यह किसान के हल की आकृति नहीं जो लोक-वार्ताविद् को अपनी ओर आकर्षित करती है, किन्तु वे उपचार अथवा अनुष्ठान हैं जो किसान हल को भूमि जोतने के काम में लेने के समय करता है, जाल अथवा बंसी की बनावट नहीं, वरन् वे टोटके जो मछुआ समुद्र पर करता है, पुल अथवा निवास का निर्माण नहीं, वरन् वह बलि जो उसके बनाते समय दी जाती है और उसके उपयोग में लाने वालों के विश्वास। लोक-वार्ता वस्तुतः आदिम मानव की मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति है, वह चाहे दर्शन, धर्म, विज्ञान तथा औषध के क्षेत्र में हुई हो, चाहे सामाजिक संगठन तथा अनुष्ठानों में अथवा विशेषतः इतिहास, काव्य और साहित्य के अपेक्षाकृत बौद्धिक प्रदेश में।"[1]

डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल लिखते हैं—

"लोक-वार्ता एक जीवित शास्त्र है—लोक का जितना जीवन है उतना ही लोक-वार्ता का विस्तार है। लोक में बसने वाला जन, जन की भूमि और भौतिक जीवन तथा तीसरे स्थान में उस जन की संस्कृति—इन तीन

१ ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन, पृष्ठ १—२

क्षेत्रों में लोक के पूरे ज्ञान का अन्तर्भाव होता है, और लोक वार्ता का सम्बन्ध भी इन्हीं के साथ है।"[1]

लेनिन का कथन है—"Folklore is material about the hopes and yearnings of the people."

(लोक-वार्ता जन की आशाओं और आत्म भावों (स्नेह-सम्बन्धों) से सम्बन्धित सामग्री है।)

गांधीजी के शब्दों में Folklore is the literature of the people, but it belongs to an order of things that is passing away if it has not already done so."

(लोक-वार्ता लोगों का साहित्य है, पर यह लुप्त होती हुई सामग्री, यदि अब तक वह न हो चुकी हो, से सम्बन्धित है।)

लोक-वार्ता के विषयों की तालिका काफी लम्बी-चौड़ी है। बर्न ने उन्हें तीन प्रधान समूहों में बाँटा है। डॉ० सत्येन्द्र के अनुसार उनका वर्गीकरण इस प्रकार हो सकता है :

१ वे विश्वास और आचरण-अभ्यास जो सम्बन्धित हैं—
   पृथ्वी और आकाश से,
   वनस्पति जगत् से,
   पशु जगत् से,
   मानव से
   मनुष्य-निर्मित वस्तुओं से,
   आत्मा तथा दूसरे जीवन से,
   परा-मानवी व्यक्तियों से,
   शकुनों-अपशकुनों, भविष्यवाणियों, आकाशवाणियों से,
   जादू टोनों से,
   रोगों तथा स्यानों की कला से,

---

1 पूर्विनी पुत्र, पृष्ठ ८२

२ रीति रिवाज—

सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थायें,

व्यक्तिगत जीवन के अधिकार, व्यवसाय, धन्धे तथा उद्योग,

तिथियाँ, व्रत तथा त्योहार,

खेल-कूद तथा मनोरंजन।

३ कहानियाँ गीत तथा कहावतें—

कहानियाँ (अ) जो सच्ची मानकर कही जाती हैं।

(आ) जो मनोरंजन के लिए होती हैं।

गीत सभी प्रकार के,

कहावतें तथा पहेलियाँ,

पद्यबद्ध कहावतें तथा स्थानीय कहावतें।

मोटे तौर पर 'फोकलोर' (लोक-वार्ता) के विषयों का हम निम्न रूप में भी वर्गीकरण कर सकते हैं

१ लोक-गीत, लोक-कथायें, कहावतें पहेलियाँ आदि।

२ रीति-रिवाज, त्योहार, पूजा-अनुष्ठान, व्रत आदि।

३ जादू-टोना, टोटके, भूत प्रेत-सम्बन्धी विश्वास आदि।

४ लोक-नृत्य तथा नाट्य तथा आंगिक अभिव्यक्ति।

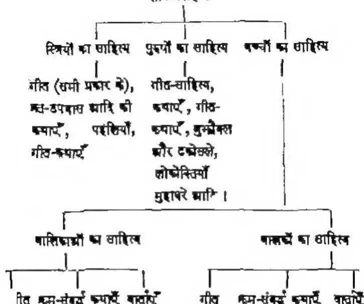
५. बालक-बालिकाओं के विभिन्न खेल, ग्रामीण एवं आदिवासियों के खेल आदि।

इस प्रकार लोक-वार्ता का क्षेत्र बहुत व्यापक है और लोक-साहित्य उसका एक अंग है। यहाँ मानव के विभिन्न आचार-विचारों का स्पर्श लोक-साहित्य से होता है वहाँ तक लोक-वार्ता के अन्य विषय लोक-साहित्य के लिए सहायक होते हैं।

लोक-साहित्य

लोक-साहित्य लोक-वार्ता का एक महत्त्वपूर्ण भाग है। इसके अन्तर्गत स्त्रियों, पुरुषों और बच्चों का गद्य एवं पद्य-वाङ्मय आता है। भिन्न रूप

में हम इसका विस्तार प्रस्तुत कर सकते हैं—



कतिपय विद्वानों का कथन है कि यह साहित्य मौखिक होता है अतः उसे 'साहित्य' की संज्ञा न देते हुए वाङ्मय कहा जाना चाहिए। महाराष्ट्र के स्वर्गीय वि० का० राजवाडे ने 'साहित्य' की अपेक्षा 'वाङ्मय' शब्द ही अधिक पसन्द किया जिसे केवल 'लोक' के सम्बन्ध में प्रयुक्त करना उनका अभिप्रेत था। ज्ञानेश्वरी की टीका करते हुए उन्होंने लिखा था कि प्रान्तीय, प्राकृत और अपभ्रंश लोक-कथाएँ, सन्त-कथाएँ, गीत, पवाड़े, लावनियाँ, कहावतें आदि वाङ्मय की खरी-खरी खोज होना अभी शेष है।[1] एक अन्य ग्रन्थ में उन्होंने लिखा है, "स्त्रियों की कहानियाँ व बालकों के सो जाने पर बैठकर गाई जाने वाली ओवियाँ 'सारस्वत' के भाग हैं। स्त्रियों के गीत,

1 ज्ञानेश्वरी, पृष्ठ १७

कहानियाँ, ओवी आदि सभी प्रकार के समाज में सभी अवस्थाओं में उप-लब्ध होते हैं।"[1] इससे स्पष्ट है कि 'सारस्वत' शब्द उस कोटि में नहीं आता जिसमें कि 'वाङ्मय' लिया गया है।

लोक-साहित्य के सभी लक्षणों को व्यक्त करना यहाँ अभीष्ट नहीं है। संक्षेप में लोक-साहित्य किसी व्यक्ति-विशेष द्वारा निर्मित नहीं होता। उसके पीछे परम्परा होती है जिसका सम्बन्ध समाज से भिन्न नहीं है। उसकी अभि-व्यक्ति सामूहिक है। व्यक्तित्व से रहित सामान्य रूप में समाज की भावना को व्यक्त करने वाली मौखिक अभिव्यक्तियाँ लोक-साहित्य की श्रेणी में आती हैं।

जहाँ तक लोक-वार्ता और लोक-साहित्य का सम्बन्ध है लोक-साहित्य का मुख्य भाग ही उसके क्षेत्र में आता है। ऐसा साहित्य भी है जो उसके बाहर है। "लोक-वार्ता में केवल वही लोक-साहित्य समाविष्ट होता है जो लोक की आदिम परम्परा को किसी-न-किसी रूप में सुरक्षित रखता है। इस लोक-वार्ता-साहित्य का मूल्य केवल साहित्य की दृष्टि से होता है जो नृ-विज्ञान के किसी पहलू पर प्रकाश डालती हैं। इस साहित्य से हम आदिम मानव की आदिम प्रवृत्तियों का शोध कर सकते हैं। इस प्रकार के लोक-साहित्य की व्याख्या करने में जब यह सिद्ध हो कि उसके मूल में किसी आधिभौतिक तत्त्व का ही प्रतिबिम्ब है, कि आदिम मानव ने सूर्य और अन्धकार के संघर्ष को, अथवा सूर्य और उषा के प्रेम को अथवा ऐसे ही पर्व को ही विविध रूपों द्वारा साहित्य का रूप प्रदान कर दिया है, तो उसमें वह रूप धर्म-गाथा का रूप ग्रहण कर लेता है। तात्पर्य यह है कि लोक-साहित्य का वह अंश जो रूप में 'अवदान' ही होता है कहानी, पर जिसके द्वारा प्रतीत होता है किसी ऐसे प्राकृतिक व्यापार का वर्णन जो साहित्य-स्रष्टा ने आदिम काल में देखा था और जिसमें धार्मिक भावना का पुट भी है, वह धर्म-गाथा कहलाता है। इसके अतिरिक्त प्राचीन मौखिक परम्परा से प्राप्त कथा तथा गीत-साहित्य भी लोक-साहित्य कहलाता है।"[2]

---

१ महाराष्ट्र सारस्वत (भाग दो) पृष्ठ १०९

२ ब्रज लोक-साहित्य का अध्ययन, पृष्ठ २–९

३

लोक-साहित्य-संकलन की परम्परा

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में पाश्चात्य देशों में लोक-साहित्य-सम्बन्धी तीव्र आकर्षण उत्पन्न हुआ। जॉन ऑब्रे (John Aubrey) द्वारा लिखी गई टिप्पणियों से ज्ञात होता है कि इस ओर सत्रहवीं शताब्दी में ही जिज्ञासा के भाव प्रगट हो गए थे।[1] पुरातत्त्व-शास्त्र, समाज विज्ञान, जाति विज्ञान एवं भाषा विषयक नवीन ज्ञान की प्रगति ने लोक-भाषाओं की मौखिक निधि के प्रति सभी देशों को समान रूप से आकर्षित किया। क्रमशः लोक में प्रचलित मान्यताएँ, रूढ़ियाँ, अन्ध-विश्वास, परम्पराएँ, धार्मिक आचार विचार और विभिन्न भाषागत अभिव्यंजनाएँ भी अध्ययन के विषय बनते गए जो समग्र रूप से लोक-वार्ता-साहित्य के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं।

बिशप पॅर्सी (Percy) द्वारा जगाई गई इस विषय की चेतना (१८वीं शताब्दी) ग्रिम द्वारा किञ्चित् वैज्ञानिक रूप प्राप्त करते हुए, जॉन्स और मैक्समूलर के वैदिक साहित्य के अध्ययन का स्पर्श पाकर, टेलर के ग्रन्थों के रूप में प्रकाशित हुई और फ्रेजर के 'दी गोल्डन बो' (१८९० ई०) ग्रन्थ के रूप में अच्छी तरह से निखरी। संक्षेप में लोक-साहित्य का अध्ययन पश्चिम में विभिन्न जातियों के प्रति जिज्ञासा-वृत्ति से प्रेरित होता

---

1 ऑब्रे ने सन् १६८० ई० में 'रिमेन्स ऑफ जैन्टिलिज्म एण्ड जुडाइज्म' पर अपने विचार लिखे, जो सन् १८८१ में प्रकाशित हुए।

हुआ धीरे धीरे एक अलग विज्ञान का स्वरूप धारण करता गया, जिसने न केवल पश्चिमी देशों को ही प्रभावित किया, बल्कि वहाँ से उठी हुई लहर ने सुदूर-पूर्वी देशों को भी शीघ्र ही प्लावित करना आरम्भ कर दिया।

भारतवर्ष में इस कार्य की लहर लोक-वार्ता के सम्पन्न देशों से छूते हुए सहायक नहीं आए। १९वीं शताब्दी के मध्य में जब ब्रिटि- शासकीय बागडोर पूरी तरह अपने हाथ में सँभाली, तब लोक-मानस अध्ययन की आवश्यकतावश अंग्रेजी विद्वानों ने अपनी दृष्टि दौड़ाई। विभिन्न धर्मों, बंगाली जातियों विविध प्रथाओं और भिन्न भिन्न संस्कृतियों का देश उन्हें कम आकर्षक नहीं लगा। फलस्वरूप भारतीय लोक-साहि- के अध्ययन और संकलन की नींव पड़ी।

[१] वैसे तो कर्नल जेम्स टाड के 'एनल्स एण्ड एण्टिक्विटीज ऑफ राजस्थान' (१८२९ ई०) से भारतवर्ष में लोक-गाथा-संकलन का श्रीगणेश मानना चाहिए, किन्तु उसमें गाथा-तत्त्व की अपेक्षा इतिहास की सामग्री का बाहुल्य है, अतः श्री ... गोवर (Gover) की पुस्तक 'फोक सांग्स ऑफ सदर्न इण्डिया' (सन् १८६२) को प्राथमिकता दी जाना अनुचित न होगा, जो कि कदाचित् भारत में लोक-गीतों का प्रथम संग्रह है।

सुविधा के लिए इस दिशा में भारत-सम्बन्धी प्रकाशित ग्रन्थों को दो भागों में बाँटना उचित होगा—

(अ) हिन्दी जनपद-सम्बन्धी ग्रन्थ और (आ) अहिन्दी जनपद सम्बन्धी ग्रन्थ।

(अ) हिन्दी जनपद-सम्बन्धी ग्रन्थ संख्या में बहुत ही कम हैं। इसके अन्तर्गत मध्य-भारतीय जातियों के सम्बन्ध में लिखे गए हिस्लप के लेख (१८६६), जिनमें कुछ मूल लोक-कथाएँ भी आई हैं, बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। हिस्लप के पश्चात् डॉ० वेरियर एल्विन के ग्रन्थ—'फोक टेल्स ऑफ महाकोशल', 'फोक सांग्स ऑफ छत्तीसगढ़', 'फोक सांग्स ऑफ मैकल हिल्स' (श्यामराव हिवाले सहित), 'सांग्स ऑफ दि फारेस्ट' (हिवाले सहित), 'मिथ्स ऑफ मिडिल इण्डिया', 'उड़िया एण्ड टेंपर पोइम्स',

'दी बैगा', 'दी अगरिया', आदि। शरत्चन्द्र राय लिखित 'मुण्डा एण्ड देयर कन्ट्री' (१९१२), क्रिश्चियन जोन द्वारा संगृहीत 'बिहार प्रोवर्ब' तथा आर्चर लिखित 'ब्लू ग्रव' कुछ उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं।

(आ) अहिन्दी जनपद-सम्बन्धी ग्रन्थों में 'ओल्ड डेक्कन डेज'[1] (१८६८), 'डिस्क्रिप्टिव एथनालाजी आफ बंगाल'[2] (१८७१), 'फोक टेल्स ऑफ बंगाल'[3] (१८८३), 'पन्तसट गैलेयस एण्ड लीजेण्ड्स ऑफ हिन्दुस्तान'[4] (१८८२), 'लीजेण्ड्स ऑफ दी पंजाब'[5] (१८८४), 'वाइड अवेक स्टोरीज' (१८८४), 'फोक लोर इन सदर्न इण्डिया'[7], 'इण्डियन फोकलोर'[8], 'सिमला विलेज टेल्स'[9], 'रोमान्टिक टेल्स फ्रॉम पंजाब'[10], 'बंगाली हाउस होल्ड टेल्स'[11], 'ओरियण्टल पर्ल्स'[12], 'इण्डियन फेबल्स'[13], 'फोकलोर आफ दी तेलगूज'[14], 'ईस्ट बैंगाल

1. मिस फ्रेयर
2. डाल्टन
3. लालबिहारी दे
4. पोस्तुव
5. आर॰ सी॰ टेम्पल
6. श्रीमती स्टील
7. नटेश शास्त्री
8. आर॰सी॰ मुखर्जी
9. श्रीमती डेकर्स
10. सी॰ स्विन्नर्टन
11. एम॰ कुमार
12. सोमनादेवी
13. रामस्वामी राजू
14. जी॰ आर॰ सुब्रह्मण्य पन्तलु

बैलेड्स'[१], 'फोकलोर ऑफ बम्बे'[२], 'फोकलोर नोट्स, गुजरात एण्ड कोंकण ऑफ बम्बे'[३], आदि कुछ प्राप्य ग्रन्थ हैं। अनुमान है कि कुछ ग्रन्थ और होने चाहिएँ जो इन दिनों भारतीय पुस्तकालयों में उपलब्ध नहीं हैं।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त 'जरनल ऑफ रायल एशियाटिक सोसायटी', 'इण्डियन ऐंटिक्वेरी', 'नार्थ इण्डियन नोट्स एण्ड क्वेरीज', 'बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसायटी जरनल', आदि में रिचर्ड टैम्पेल, क्रुक, वे, एन० मॉलीव, बोम्पस, गोर्डन, मजूमदार, शरत्चन्द्र राय, पैंजर, ग्रियर्सन, वार्थ बगाव, हॉपमैन, ब्राउन, आदि के फुटकर लेखों में बहुत कुछ काम की सामग्री प्रकाशित हुई है। प्रान्तीय भाषाओं का अध्ययन भी इस दिशा में सहयोगी सिद्ध हुआ है। 'लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया' (१९०७-८) की जिल्दों में ग्रियर्सन ने कुछ मूल गीतों को अनुवाद सहित प्रस्तुत किया है।[४]

उपर्युक्त ग्रन्थों की सूची से यह प्रकट होता है कि हिन्दी जनपदों की अपेक्षा अहिन्दी जनपदों में, भारतीयों और अभारतीयों द्वारा अधिक कार्य हुआ है। हिन्दी जनपद तो बिहार, पश्चिम और मारवाड़ के ही बड़े भाग। दूसरे, लोक-कथाओं की ओर अन्य विषयों से अधिक ध्यान दिया गया, जिससे लोक-साहित्य की अन्य दिशाएँ छूट सी गयी हैं। भारतभाषियों द्वारा लोक-साहित्य-सम्बन्धी कार्य अल्पस्वरूप रूप में भले ही वैज्ञानिक रहा हो, पर सम्भव नहीं है कि उसमें लोक-जीवन के वैविध्य की जिज्ञासा थी। ईसाई मिशनरियों के फैलाव और धर्म-प्रचारार्थ प्रान्तीय भाषाओं के अध्ययन की आवश्यकता ने प्रान्तीय भाषाओं के मौखिक साहित्य के संकलन को भी प्रेरणा दी, इसमें शक नहीं।

२०वीं शताब्दी के आरम्भ में जातीय चेतना और भारतगत आवश्यकता

---

१ दिनेशचन्द्र चक्रकुमार (कलकत्ता विश्वविद्यालय)

२ ३ आर० ई० एन्थोवन

४ देखिए 'लोक-वार्ता' (जनवरी, १९४६) में प्रकाशित 'भारतीय लोक-कथाएँ और उनके अंग्रेजी संग्रह' शीर्षक लेख

आरम्भ हो गई थी। उसने ग्रामभाषियों के प्रयत्नों से प्रेरणा लेकर लोक-साहित्य के प्रति रुचि-निर्माण में योग देना प्रारम्भ किया। इस प्रेरणा और रुचि के मूल में राष्ट्रीय आन्दोलन और इने गिने साहित्यिकों में निहित जनोन्मुखी स्नेह का बल भी था। कुछ अंशों में लोकमानस की कथा और भोली 'भिन्न' अभिव्यक्तियों[1] का आकर्षण भी काम कर रहा था।

२ हिन्दी में प्रकाशित लोक-साहित्य पर प्रकाश डालने के पूर्व, अन्य प्रान्तीय भाषाओं में किये गए कार्यों पर एक नज़र डालना आवश्यक है, जिनमें गुजराती, बंगला, मराठी, पंजाबी विशेष रूप से उल्लेखनीय रही हैं।

गुजराती में स्वर्गीय झवेरचन्द मेघाणी द्वारा सम्पादित 'रढियाली रात' (४ भाग), 'चुन्दड़ी' (२ भाग) तथा 'लोक-साहित्य', रणजीतराम मेहता लिखित 'लोकगीत' और नर्मदाशंकर लालशंकर द्वारा संगृहीत 'नागर स्त्रियों मां गवाता गीत' उल्लेखनीय हैं। बंगला में 'ठाकुरमार झुली' (योगीन्द्र नाथ सरकार), 'बंगलार ब्रत' १९१९ (अवनीन्द्र नाथ टाकुर), 'हारामणि' (मुहम्मद मन्सूरुद्दीन) और 'बंगलार बाउल' (जसीमुद्दीन), पंजाबी में 'पंजाब दे गीत' (पं. रामशरण दास), 'गिद्धा' १९३६ (देवेन्द्र सत्यार्थी), मराठी में 'स्त्री जीवन' (साने गुरुजी), 'साहित्याचें मूलधन' (वामन चोरघडे), 'अपौरुषेय वाङ्मय (कमलाबाई देशपांडे), 'वर्हाडी लोक गीतें' (गोरे), 'लोकगीतें व लोककथा' (जोशी), 'लोक साहित्याचें लेणें' (मालती दाण्डेकर) तथा य. न. केलकर द्वारा संगृहीत 'ऐतिहासिक पोवाडे' एवं कु. दुर्गा भागवत, डॉ. सरोजिनी बाबर आदि के फुटकर लेख उल्लेखनीय हैं। नेदुन्दी गंगानरम ने लगभग ५००० तेलुगु लोकगीत संकलित किये हैं। के. वी. जगन्नाथन् ने तमिल लोककथाओं के दो संग्रह, गोपाल पिल्लई ने मलयालम लोकगीत तथा 'मालिगे हवाइ' नाम से लिखित प्रयत्न इस दिशा में सराहनीय सामग्री हैं।

लोक-साहित्य संकलन के सम्बन्ध में जो परिस्थितियाँ अन्य प्रान्तीय

---

1 देखिए, 'आलोचना' अंक ७, 'हिन्दी-साहित्य के विकास क्रम में लोकवार्ता की पृष्ठभूमि' शीर्षक डा. सत्येन्द्र का लेख पृष्ठ ११

भाषाओं के समक्ष थीं वे ही हिन्दी के सामने रहीं। २०वीं शताब्दी के दूसरे दशक में 'सरस्वती' मासिक से प्रोत्साहन पाकर श्री मन्नन द्विवेदी के प्रयत्नों से 'सरवरिया' नामक गोरखपुर जिले के गीतों का एक छोटा सा संग्रह सन् १९११ में प्रकाशित हुआ।

हिन्दी में लोक-साहित्य-संकलन के उद्योग का यहीं से प्रथमोत्थान आरम्भ होता है।[1] उन्हीं दिनों 'सरस्वती' में सन्तराम बी० ए० के 'पंजाबी लोकगीत' प्रकाशित हुए थे, (जिनका संवर्धित संस्करण १९२५ में 'पंजाबी गीत' के नाम से प्रकाशित हुआ) जिनसे पं० रामनरेश त्रिपाठी निश्चय ही प्रभावित हुए बिना न रहे। सन् १९२६ के पश्चात् वे बड़ी लगन से इस क्षेत्र में घुस पड़े। परिणामस्वरूप 'कविता-कौमुदी' (पाँचवाँ भाग), 'हमारा ग्राम-साहित्य' तथा 'मारवाड़ी गीत-संग्रह' पुस्तकों का निर्माण हुआ। 'कविता-कौमुदी' की भूमिका में ग्राम-गीत-संग्रह के कार्य में आने वाले कष्टों का उल्लेख त्रिपाठीजी ने रोचक ढंग से किया है। अपना कार्य आरम्भ करने के पूर्व 'सरस्वती' में कुछ गीतों को लेकर उन्होंने दो लेख लिखे थे। 'चाँद' मासिक का भी उस समय कम सहयोग न रहा। त्रिपाठीजी की लगन और तत्परता का अनुमान उनके इस पद्य-पद से कीजिए—

मैं विरही हूँ गीत का धर सन्यासी का भेस।
मारा मारा गीत को घूम रहा हूँ देस॥
काम बहुत वैसा नहीं नहीं विषय की चाह।
मुझे चाहिए गीत वह जिसमें हो कुछ भाव॥[2]

---

1 बताया जाता है कि बाँकीपुर निवासी लाला रंगबहादुर माथुर ने सन् १८८८ में 'मुक्ता दुँदा' नामक गीतों का कोई संग्रह तैयार किया था जो लेखक के देखने में नहीं आया। यदि उक्त संग्रह उपलब्ध हो जाय तो यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि अंग्रेज़ी के कार्यों के समानान्तर हिन्दी में भी लोक-साहित्य-संकलन का कार्य आरम्भ हो गया था।

2 'कविता कौमुदी' (५वाँ भाग) की भूमिका, पृष्ठ ११

त्रिपाठीजी की भाँति १९३० के पश्चात् श्री देवेन्द्र सत्यार्थी भी गीतों की खोज में जुट गए। त्रिपाठीजी का क्षेत्र संकुचित और अधिक वैयक्तिक रहा, पर सत्यार्थीजी का विस्तृत, विविधरूपा हुआ और व्यापक प्रभाव। उन्होंने भारतीय ग्रामों में दूर-दूर तक यात्रा की, गीतों का संकलन किया उन्हीं गीतों पर 'माडर्न रिव्यू' 'विशाल भारत' और हिन्दी-उर्दू के पत्रों में क्रम से लिखते रहे। सत्यार्थीजी के कठोर परिश्रम और अध्यवसाय का कुछ ऐसा प्रभाव रहा कि १ दिसम्बर, १९४७ में लेखक से वार्तालाप करते हुए गांधीजी ने कहा था—"पचास से अधिक भाषाओं के कोई तीन लाख गीत संग्रह कर डालना कोई थोड़ा काम नहीं है। तुम्हारे बीस वर्ष इसी काम में खर्च हो गए।"[1] गांधीजी के इस कथन से यही संकेत मिलता है कि श्री सत्यार्थी सन् १९२७ से ही गीतों को ढूँढ़ने में व्यस्त हो गए थे और प्रतिदिन औसतन ४१-४२ गीत एकत्र करते रहे।

लोक-साहित्य-संकलन के प्रथमोत्थान की अवधि सन् १९४२ तक समझनी चाहिए। इस बीच पत्र-पत्रिकाओं में रसीले-चटपटे लोकगीतों की, शृंगारी और विरही भावनाओं के प्रति, 'वाह' और 'आह' की प्रवृत्तियों से बोझिल लेखों का प्रकाशन होता रहा। राजस्थान और मारवाड़ अवश्य ही इस आन्दोलन के प्रति जागरूक हो गए थे। सूर्यकरण पारीक के प्रयत्नों से राजस्थानी गीतों का संकलन एक सुलझी हुई पद्धति से आरम्भ हो गया था। तो भी प्रमुख रूप से प्रथमोत्थान रामनरेश त्रिपाठी की 'कविता कौमुदी' और देवेन्द्र सत्यार्थी के रोमानी लेखों से प्रभावित होकर, केवल लोक-गीतों के संकलन तक ही सीमित रहा।

सन् १९४२ के पश्चात्, हिन्दी में अपने इस 'भूलापन' के प्रति एक नई जागरूकता उत्पन्न हुई, जिसके पीछे पं० बनारसीदास चतुर्वेदी की 'विके-न्द्रीकरण योजना', तथा डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल की 'जनपद कल्याणी योजना' प्रेरणादायी सिद्ध हो रही थीं। राहुल सांकृत्यायन लिखित

---

1 देवेन्द्र सत्यार्थी 'धरती गाती है' आमुख—पृष्ठ ३

मातृभाषाओं का प्रश्न' लेख[1] तथा शिवदानसिंह चौहान की प्रान्तीय भाषाओं पर निबन्ध-रूप में लिखी गई रिपोर्ट[2], अपने वैज्ञानिक दृष्टिकोण के नाते कम प्रभावशाली न रहे। इस वैचारिक ऊहापोह का परिणाम यह हुआ कि कुछ विद्वान् लोक-वार्ता-साहित्य के संकलन के विषय में सोचने लगे, कि किस प्रकार काम किया जाय। कुछ ने ये भी प्रश्न उपस्थित किये कि लोक-साहित्य अथवा लोकभाषा-साहित्य के संकलन से क्या होगा, उच्च साहित्य को उससे किस प्रकार के लाभ की सम्भावना है? किन्हीं अंशों में प्रथम प्रश्न की समस्या आज भी बनी हुई है, जिसका स्पष्टीकरण हिन्दी-लेखकों की ओर से नहीं हुआ है। काम करने का प्रश्न तो साधनों के अभाव में आगे भी बना रह सकता है। श्री राहुल सांकृत्यायन ने १९४७ में लोक-साहित्य-संकलन के लिए क्षेत्र चुने जाने के विषय में साधारण तौर पर योजना प्रस्तुत करते हुए लिखा है—

(१) भाषा ऐसी हो, जिसका क्षेत्र अपेक्षाकृत छोटा हो।

(२) जिस भाषा के (कई शताब्दियों के अन्तर से) अनेक रूप उपलब्ध हों, जिससे कि तुलनात्मक अध्ययन में पूरी मदद मिल सके।

(३) जहाँ भाषा-तत्त्वज्ञ तथा उस भाषा के मर्मज्ञ भी मिल सकें।

(४) जहाँ की स्थानीय संस्थाएँ इसके लिए तैयार हों।

(५) जहाँ उत्साही लेखक और कार्यकर्त्ता सुलभ हों।

(६) जहाँ काम जल्दी समाप्त किया जा सकता हो।[3]

दूसरे प्रान्तों में लोक-संस्कृति के अध्ययन और लोक-साहित्य के संकलन के उद्देश्य को लेकर कुछ जनपदीय संस्थाओं का तेजी से निर्माण हुआ। ब्रज में 'ब्रजसाहित्यमंडल', गढ़वाल में 'गढ़वाली साहित्य-परिषद्', बघेलखण्ड में 'रघुराज साहित्य-परिषद्', बुन्देलखण्ड में 'लोक-वार्ता साहित्य-परिषद्', भोजपुर में 'भोजपुरी लोक-साहित्य-परिषद्', राजस्थान में

१ हंस', सितम्बर १९३९

२ देखिए, शिवदानसिंह चौहान की पुस्तक 'प्रगतिवाद'

३ राहुल निबन्धावली—'हिन्दी की स्थानीय भाषा

'भारतीय लोक-कला-मण्डल' तथा मालवा में 'मालव लोक-साहित्य-परिषद्' आदि कुछ इसी प्रकार की संस्थाएँ हैं। द्वितीय उत्थान का काल अभी समाप्त नहीं कहा जा सकता। अतः प्रथमोत्थान की अपेक्षा अनेक महत्त्वपूर्ण प्रयत्नों की दृष्टि से द्वितीय उत्थान अधिक महत्त्वपूर्ण है। सुविधा के लिए उक्त काल के प्रयत्नों पर निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत प्रकाश डाला जा सकता है—

(क) लोकगीतों का संकलन (अ) शास्त्रीय अनुशीलनयुक्त लोक-गीतों के संग्रह, (आ) भावनात्मक ढंग से लोकगीतों पर लिखे लेखों के संग्रह

(ख) लोक-कथाओं का संकलन

(ग) लोकोक्तियों एवं कहावतों के संग्रह

(घ) आलोचना-प्रधान लोक-वार्ता-सम्बन्धी प्रबन्ध अथवा ग्रन्थ

(ङ) लोक-वार्ता-सम्बन्धी पत्र-पत्रिकाएँ और

(च) फुटकर प्रयत्न।

(क) (अ) हिन्दी प्रदेश की वर्तमान बोलियों में द्वितीयोत्थान के मध्य शतक में, प्रमुख रूप से मारवाड़ी, राजस्थानी, भोजपुरी, छत्तीसगढ़ी, निमाड़ी, मैथिली, बुन्देलखण्डी, मालवी आदि बोलियों के अच्छे गीत-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। इनसे भिन्न बोलियों के भी कुछ गीत-संग्रह हो चुके हैं, किन्तु प्रकाशकों के अभाव में उनका प्रकाशन नहीं हो पा रहा है। प्रकाशित संग्रहों की तालिका इस प्रकार होगी—

मारवाड़ी : १ 'मारवाड़ी गीत-संग्रह' (सेवाराम माली), २ 'मारवाड़ी गीतमाला' (मन्नालाल वैश्य), ३ 'मारवाड़ी गीत' (निहाल-चन्द वर्मा), ४ 'मारवाड़ी स्त्री-गीत-संग्रह' (ताराचन्द ओझा), ५. 'मारवाड़ के ग्राम-गीत' (जगदीशसिंह गेहलोत)।

राजस्थानी : १ 'राजस्थान रा दूहा' (सं० नरोत्तम स्वामी), २ 'राजस्थान के लोक-गीत' (सूर्यकरण पारीक, ठाकुर रामसिंह), ३ 'राजस्थान के ग्रामगीत' (नरोत्तम स्वामी)।

भोजपुरी : १ 'भोजपुरी ग्राम-गीत (कृष्णदेव उपाध्याय), २ 'भोजपुरी लोकगीतों में करुण-रस' (दुर्गाशंकर प्रसादसिंह), ३ 'भोजपुरी ग्राम-गीत' (आर्चर)।

छत्तीसगढ़ी : 'छत्तीसगढ़ी लोक-गीत' (श्यामचरण दुबे)।

निमाड़ी : 'निमाड़ी ग्राम-गीत' (रामनारायण उपाध्याय)।

मैथिली : 'मैथिली लोकगीत' (रामइकबालसिंह 'राकेश')।

बुन्देलखंडी : 'ईसुरी की फागें' (स० कृष्णानन्द गुप्त)।

मालवी : 'मालवी लोक-गीत' (श्याम परमार)।

कौरवी : 'आदि हिन्दी की कहानियाँ और गीत' (राहुल सांकृत्यायन)।

उक्त संग्रहों में प्रामाणिक गीतों के अतिरिक्त, भूमिकाओं में सम्पादकों द्वारा लिखे गए लोकगीत-सम्बन्धी विवेचन पठनीय साहित्य है। 'भोजपुरी ग्राम-गीत' की भूमिका श्री बलदेव उपाध्याय ने लगभग ८५ पृष्ठों में लिखी है, जिसमें गीतों के परिचय, भारतीय और पाश्चात्य परम्परायें, गाने के ढंग, प्रकार, भौगोलिक आधार आदि पर प्रकाश डालते हुए अन्त में भोजपुरी व्याकरण तक की रूप-रेखा दी है। इस प्रकार 'राकेश' भी अपने संग्रह की भूमिका में लोकगीत की तह तक पहुँचे हैं।[1] 'राजस्थानी लोकगीत' यद्यपि छोटा संग्रह है, पर सूर्यकरण पारीक ने १२ पृष्ठों में राजस्थानी गीतों का विवेचन-विश्लेषण अत्यन्त ही वैज्ञानिक पद्धति से किया है। गीतों की गुणवाचक विशेषतायें और उपमाओं की तालिका, उनके गीतों में गहरी पैठ के द्योतक हैं। 'ईसुरी की फागें' बुन्देलखण्ड के एक लोक-कवि की प्रचलित फागों का संग्रह है। कृष्णानन्द गुप्त द्वारा लोक-कवि के जीवन और रचनाओं पर प्रकाश डालने वाली यह हिन्दी-लोकगीत-साहित्य में प्रथम पुस्तक है। उक्त संग्रहों के प्रति समग्र रूप से यही कहना उचित होगा कि उनमें यथार्थ लोकवार्ता का वैज्ञानिक स्वरूप

१ 'राकेश' जी ने संग्रह में कुछ भोजपुरी गीतों को मैथिली रूप देने की चेष्टा की है, जिससे गीतों के मूल रूप नष्ट हो गए हैं। अतएव वैज्ञानिक दृष्टि से यह प्रयास उचित नहीं कहा जा सकता।

पूरी तरह मिलता नहीं, तथापि उनके द्वारा भावी अध्ययन की नींव अवश्य तैयार हो गई है।

(आ) भावनात्मक ढंग से लिखे गए लोकगीत-सम्बन्धी लेख-संग्रहों के अन्तर्गत केवल देवेन्द्र सत्यार्थी लिखित १ 'धरती गाती है' (१९४८), २ 'धीरे बहो गंगा' (१९४८), ३ 'बेला फूले आधी रात' (१९४९) और ४ 'बाजत आवे ढोल' (१९५२) पुस्तकें आती हैं। इस दिशा में सत्यार्थी अकेले हैं। यों तो उन्हें हमने प्रथमोत्थान का व्यक्तित्व माना है, पर पूर्व संचित उनकी लोक-साहित्य-सम्बन्धी सामग्री का प्रकाशन द्वितीयोत्थान काल में हुआ है। अतः मस्तिष्क में किसी गीत की ध्वनि की भाँति उनका प्रभाव बना हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि अपनी भाषा और शैली से सत्यार्थीजी ने हिन्दी के एक बड़े वर्ग को लोकगीतों के प्रति आकर्षित किया है। गीतों के प्रति भावना-प्रधान पहुँच होते हुए, तुलनात्मक दृष्टिकोण का संकेत तथा लोकवार्ता सम्बन्धी प्रकाशित सामग्री का यथोचित ज्ञान, और फिर उसका अन्योन्याश्रित समन्वय का उत्कृष्ट स्वरूप हमें उनके लेखों में मिलता है। निश्चय ही उनके संग्रहों में मूल गीतों की संख्या कम है। यद्यपि गीतों के लिए उन्होंने अनेक प्रान्तों में भ्रमण किया है, पर ऐसा प्रतीत होता है कि कवि होने के नाते उन्होंने अपने लिए केवल गीतों की मधुर पंक्तियाँ ही चुनी हैं, अपनी शैली को उन्होंने स्वतन्त्र 'निजी चर्चा की शैली'[1] कहा है। इसलिए वह साधारण पाठकों को अवश्य छू सकी है। सत्यार्थीजी का एक महत्त्वपूर्ण कार्य गीतों के अनुवाद-सम्बन्धी शैली के विषय में है। उन्होंने स्वीकार किया है—"अनुवाद भी एक कला है। सचमुच यह बड़ी जिम्मेदारी का काम है। न एक शब्द ज्यादा, न एक शब्द कम; पंक्तिवार अनुवाद"; यही है अन्तर्राष्ट्रीय लोक-गीत विशेषज्ञों की शैली।"

"जहाँ भी मैं गया, मैंने किसी-न किसी दोभाषिए की सहायता से गीतों का अनुवाद साथ-साथ तैयार करने का क्रम जारी रखा—प्रत्येक शब्द का

1 धरती गाती है, आमुख—पृष्ठ १

अनुवाद, प्रत्येक कड़ी का अनुवाद अनुवाद करते-करते मैं इसी प्रश्न में क्रमशः अधिक-से अधिक स्पष्ट होता चला गया।"

सत्यार्थी अपने कुछ लेखों में लोकगीत-संग्रह के अनुभव भी व्यक्त करते गए हैं, जिससे गीतों के उल्लेख के अतिरिक्त उनमें कहानी-तत्त्व का आभास भी मिलता जाता है।

(ख) लोक-कथाओं के संकलन का प्रयास हिन्दी में गीत-संकलन की अपेक्षा बहुत ही कम हुआ है। डॉ॰ वेरियर एलविन ने अपने ग्रन्थ 'फोकटेल्स ऑफ महाकोशल' की भूमिका में प्रसिद्ध नृतत्त्ववेत्ता नार्मन ब्राउन का अनुमान व्यक्त किया है कि भारत तथा उसके पड़ोसी देशों में लगभग ३००० लोक-कथाएँ लिपिबद्ध होकर प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनमें पंजाब, संयुक्त प्रान्त और मध्यभारत से लगभग ६०० कथाएँ प्राप्त की गई हैं। डॉ॰ एलविन ने अपने संग्रह 'फोकटेल्स ऑफ महाकोशल' में १५० तथा अन्य रचनाओं में ५५ कथाएँ संकलित की हैं। म्यूल फीयर का तो कहना है कि भारतीय लोक-कथाओं में संस्कृत-साहित्य की ही गाथाएँ ध्वनित होती हैं। उन्होंने आगे बढ़कर कहा है, "जिसे हम भारतीय कथा-साहित्य कहते हैं, वह वास्तव में परिवार कथा-साहित्य—तिब्बती, मंगोली सुदूर भारतीय, चीनी साहित्य—ही है।" अंग्रेजी विद्वानों द्वारा लोक-कथाओं पर जो कार्य हुआ है, वह कुछ अधिक होकर भी प्रामाणिक कम है। इसके कारण अनेक हैं। मुख्य कारण तो उनके दृष्टिकोण का ही है जो मनोरंजन और रोमांच तक सीमित रहा।

वास्तव में यह दिशा उन्हीं लोगों के लिए अधिक सुगम है जो अपनी सीमाओं की बोलियों और वहाँ के व्यक्तियों की आत्मा से परिचित हों। इस दृष्टि से हिन्दी में सबसे ईमानदार प्रयास पं॰ शिवसहाय चतुर्वेदी का है। उन्होंने बुन्देलखण्ड की लोक-कथाओं का संग्रह तैयार किया, जिसमें स्थान और वातावरण के साथ लोक-कथाओं की 'स्पिरिट' मरने न दी। इसी प्रकार रामस्वामी और मसूरी लोक-कथाओं के संग्रह उल्लेखनीय हैं।

सामान्यतः हिन्दी की बोलियों में अभी हिन्दी के माध्यम से काम होना

शेष है। वैज्ञानिक अनुशीलन की अपेक्षा सहित वैदिक संस्कृत, अपभ्रंश, पाली, आसामी, तिब्बती, चीनी आदि में फैले हुए लोक-कथाओं के सूत्रों को खोजना उतना ही महत्त्वपूर्ण है जो बिना मूल कथाओं के (स्वर सहित) लिपिबद्ध किये जाने से पूर्ण नहीं हो सकती।

कथाओं की श्रेणी में गीत-कथाएँ भी आती हैं जिनका संकलन साधारणतया नहीं के बराबर है। अतः सम्बन्धित व्यक्तियों की लगन से इस दिशा में काम जब तक न होगा तब तक आंशिकरूपी संग्रहों से उत्पन्न भ्रान्तियाँ दूर नहीं होने की।

(ग) लोकोक्तियों के वैज्ञानिक अध्ययन की नींव हिन्दी में किसने डाली, यह विवादास्पद प्रश्न है। फिर भी कन्हैयालाल सहल के लेखों में नया हुआ वैज्ञानिक दृष्टिकोण मिलता है। लोकोक्तियों के अन्तर्गत मुहावरे, अनुभव प्रसूत सांकेतिक शब्द-योजना और पहेलियाँ आती हैं। हिन्दी-भाषियों के लिए जो मुहावरा-कोष उपलब्ध है, उसमें प्रान्तीय बोलियों की अनेक लोकोक्तियों का समावेश हुआ है। फेलन की 'डिक्शनरी ऑफ हिन्दुस्तानी प्रावर्ब्स' में भी कुछ बिहारी और भोजपुरी लोकोक्तियों के अतिरिक्त अन्य बोलियों की लोकोक्तियों को भी स्थान दिया गया है। वैसे तो हिन्दी के अधिकांश मुहावरे लोकोक्तियाँ प्रान्तीय भाषाओं और बोलियों की सम्पत्ति हैं, पर उन्हें मूल रूप में संकलित करना अनेक कारणों से आवश्यक है। संस्कृत, पाली, अपभ्रंश आदि प्राचीन भाषाओं में आधुनिक लोकोक्तियों के अनेक प्रारम्भिक स्वरूप विद्यमान हैं। यह आवश्यक है कि जहाँ लोकोक्तियों के मूल की खोज की जाय, वहाँ प्रारम्भ से अब तक के उनके भिन्न भिन्न रूपों का पता लगाकर उनका मनोवैज्ञानिक मूल्यांकन किया जाय।

हिन्दी में जनपदीय लोकोक्तियों की प्रकाशित पुस्तकें केवल पाँच ही हैं—१ 'मेवाड़ की कहावतें', १ला भाग (लक्ष्मीलाल जोशी), २ 'मालवी कहावतें' (रतनलाल मेहता), ३ 'राजस्थानी मीलों की कहावतें', १ला भाग (मेनारिया), ४ 'राजस्थानी कहावतें' (कन्हैयालाल सहल), और ५. 'राजस्थानी कहावतां' (कलकत्ता, २००६)।

अंग्रेजों ने भी इस ओर ध्यान दिया था। श्री देवेन्द्र सत्यार्थी ने 'बेला फूले आधी रात' में पंजाबी मुहावरों पर एक अच्छा निबन्ध दिया है। पहेलियों के संकलन का प्रयास सन्तोषजनक नहीं है। रामनरेश त्रिपाठी ने 'कविता कौमुदी (५वाँ भाग)' में उत्तर प्रदेश की कुछ पहेलियाँ दी हैं। वर्षा, आँधी, पानी, खेती आदि के सम्बन्ध में घाघ और भड्डरी तथा अन्य कवियों द्वारा प्रचलित की गई लोकोक्तियों का एक नया संग्रह त्रिपाठीजी ने हाल ही में तैयार किया है। पं० गणेशदत्त 'इन्द्र' ने पौष, आषाढ़, भाद्रपद, माघ तथा वर्षा आदि सम्बन्धी एक लेख-माला सन् १९४१ में 'जयाजी प्रताप', ग्वालियर में लिखी थी, जिसमें लोकोक्तियों का एक खासा समावेश हो गया है। 'मालवी लोकोक्तियाँ' एक नया संग्रह पं० सूर्यनारायण व्यास के सम्पादकत्व में छप रहा है।

लोकोक्तियाँ और मुहावरे जब संक्रान्तिकाल से गुजरते हैं, तब उनके रूपों में परिवर्तन हो जाना असम्भव नहीं। परिस्थिति की मार से वह कहावतें जो किसी वर्ग तक सीमित होती हैं, नष्ट हो जाती हैं। नई बातों के आ जाने से मनुष्य के स्वभाव के साथ कहावतों और लोकोक्तियों के उपकरण बदलने लगते हैं, तभी उनका महत्त्व इतिहास और काल की दृष्टि से बढ़ जाता है।

पहेलियाँ, जिन्हें संस्कृत में 'ब्रह्मोद्य' कहा जाता है, अत्यन्त ही अल्प मात्रा में संकलित की गईं, यह स्पष्ट है। डॉ० वेरियर एलविन और आर्चर ने सन् १९४३ में 'मैन इन इण्डिया' में एक लेख लिखा था[1], जिसका महत्त्व उनके सुलझे हुए वैज्ञानिक दृष्टिकोण के नाते हिन्दी में किये गए प्रयत्नों की अपेक्षा आगे बढ़ा हुआ है। डॉ० सत्येन्द्र ने पहेलियों के विषय पर अपने विचार व्यक्त किए हैं—"भारतवर्ष में तो वैदिक काल से 'ब्रह्मोद्य' का चलन मिलता है। 'अश्वमेध यज्ञ' में तो ब्रह्मोद्य अनुष्ठान का ही एक अंग था। अश्व की वास्तविक बलि से पूर्व, होतृ और ब्रह्मन्

---

१ 'एन इण्डियन रिडल बुक', अंक ११, संख्या ४ "मोर दॉन दी

अछोप्य पूछते थे। इन्हें पूछने का केवल इन दो को ही अधिकार था। इस प्रकार पहेलियों का प्रयोग भारतवर्ष में ही नहीं, अन्य देशों में भी मिलता है।[1]

(घ) लोक-साहित्य-सम्बन्धी वैज्ञानिक दृष्टिकोण व्यक्त करने वाले (दिशा दर्शक), हिन्दी में केवल डॉ॰ वासुदेवशरण अग्रवाल लिखित 'पृथिवी पुत्र' और डॉ॰ सत्येन्द्र लिखित 'ब्रज लोक-साहित्य का अध्ययन' दो ही ग्रन्थ हैं। श्री राहुल सांकृत्यायन के कतिपय फुटकर लेखों में मार्ग-दर्शन की अधिकांश सामग्री मिलती है। यह दिशा ऐसी है जिसके प्रति सबसे कम ध्यान दिया गया। इसका मुख्य कारण मूल साहित्य के संकलन का अभाव है। जो काम पश्चिम में ग्रिम ने किया, वही हमारे यहाँ डॉ॰ वासुदेव शरण और डॉ॰ सत्येन्द्र ने किया है, यह मानना अयुक्तिपूर्ण न होगा।

(ङ) जनपदीय साहित्य के उत्थान के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहने वाली पत्रिका 'मधुकर' श्री बनारसीदास चतुर्वेदी के सम्पादकत्व में वर्षों से सचेष्ट रही। उसमें प्रायः बुन्देलखण्ड के लोक-साहित्य सम्बन्धी सामग्री छपती रही। 'मधुकर' के माध्यम से टीकमगढ़ के आसपास के प्रान्तों का बहुत सा लोक-साहित्य संकलित किया जा सका। श्री चतुर्वेदी अपनी सम्पादकीय टिप्पणियों और अन्य लेखों में 'अन्तर्जनपदीय परिषद्' की स्थापना पर बराबर जोर देते रहे, जिससे इस दिशा में वैचारिक सूत्र मिल गया। ब्रजमण्डल से 'ब्रज भारती' का प्रकाशन हुआ। आरम्भ में अवश्य ही यह लोकवार्ता-साहित्य के प्रति उदासीन रही, पर शीघ्र ही वैचारिक आन्दोलन के प्रभावस्वरूप ब्रज के लोक-साहित्य को स्थान देने लगी। सन् १९४५ में श्री कृष्णानन्द गुप्त के सम्पादकत्व में लोकवार्ता-परिषद्, टीकमगढ़ द्वारा एक अत्यन्त ही श्रेष्ठ त्रैमासिक पत्रिका 'लोकवार्ता' प्रकाशित होने लगी। कुछ वर्षों के बाद पत्रिका का प्रकाशन बन्द हो गया। किन्तु इस बीच अपने वैज्ञानिक, ठोस और सुव्यवस्थित प्रणाली के कारण पत्रिका अपने ढंग की महत्त्वपूर्ण वस्तु बन गई। इस पत्रिका द्वारा लोकवार्ता-

१ 'ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन', पृष्ठ २२०—२१

४

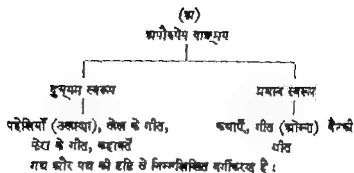
अपौरुषेय वाङ्मय

'अपौरुषेय वाङ्मय' भारतीय भाषाओं में प्रायः उस साहित्य के लिए व्यवहृत प्रयोग है, जो साधारण मानव-कृत नहीं अर्थात् वह साहित्य जिसका सृजन देवताओं द्वारा हुआ है। धर्मों के आदि ग्रन्थ इसी के अन्तर्गत आते हैं, किन्तु यहाँ उक्त आशय की दृष्टि से 'अपौरुषेय वाङ्मय' का प्रयोग नहीं किया जा रहा है। कुछ वर्ष पूर्व मराठी साहित्य की प्रौढ़ा लेखिका कमला बाई देशपाण्डे ने 'अपौरुषेय वाङ्मय' का प्रयोग उस लोक-साहित्य के लिए किया जो पुरुषों द्वारा रचित नहीं, वरन् जिसके सृजन का सम्पूर्ण श्रेय स्त्रियों को प्राप्त है। ऐसा साहित्य स्त्रियों के जीवन में निरन्तर उपयोगी है और इसके अभाव में युगों से चले आते हुए उनके जीवन क्रम में भारी व्यवधान उपस्थित होने की सम्भावना है। इस प्रकार का साहित्य (विशेष रूप से लोक-साहित्य) भारतीय-अभारतीय सभी भाषाओं और बोलियों में विद्यमान है।

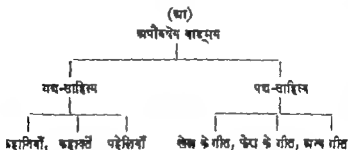
स्त्रियों ने अपनी वृत्तियों के अनुरूप, सहज स्फूर्तिवश आनुष्ठानिक, औपचारिक एवं मनोरञ्जनार्थ साहित्य का निर्माण किया है। उसके सृजन का कोई निश्चित समय नहीं। यह परम्परागत 'श्रुति' सम्पत्ति है जिसमें प्रत्येक अवस्था में स्त्रियों ने अपनी ओर से कुछ योग दिया है।

समग्र लोक-साहित्य को यदि पुरुष वाङ्मय और स्त्री-वाङ्मय इन दो

स्थूल वर्गों में विभक्त करें तो निश्चय ही स्त्री वाङ्मय (अपौरुषेय) का भण्डार पुरुष-वाङ्मय की अपेक्षा अधिक बड़ा होगा। यह ऐसा साहित्य है जिसे 'अक्षरों' का बन्धन नहीं है, जो पुस्तकों और ग्रन्थों में स्याही द्वारा स्थिर नहीं किया गया है, जिसके रचयिताओं का किसी को ज्ञान नहीं है और फिर जीवन में जिसके बिना स्त्रियों के विभिन्न आचार विचार और अनुष्ठानों की गति नहीं है। यह स्त्रियों की वाणी द्वारा पोषित है। यह उनके हृदय पर उकेरा गया है। उसे परम्परात्मक संस्कारों का स्पर्श प्राप्त है जिसके द्वारा युगों पूर्व की नारी अपनी वेदना, हर्ष, विषाद, आनन्द उमंग, उल्लास, संयोग, वियोग, प्रताड़ना, घृणा, ग्लानि, आदि से गुम्फित भावों को आज की नारी तक 'वाचिक' अभियान द्वारा पहुँचा रही है। अपौरुषेय वाङ्मय रूपी वृक्ष की जड़ें भूतल में फैली हुई हैं, पर वर्तमान में अवस्थित बाह्य शाखाएँ, पत्र एवं पुष्पों के भीतर एक सामान्य रस का सञ्चार हो रहा है। यह श्रुति-परम्परा के आश्रय से ही प्राप्त हुआ है। मानव-सभ्यता के विकास के साथ-साथ स्त्रियों का यह साहित्य क्रमशः वृद्धि पाने लगा। यदि हम उसे वेदों के पूर्व ही आरम्भ किया हुआ वाङ्मय मान लें तो अत्युक्ति न होगी। यद्यपि आज हमें उस काल के साहित्य का ज्ञान नहीं, किन्तु उपलब्ध होने वाले साहित्य में अवशिष्ट स्त्रैण प्रवृत्ति का दिग्दर्शन तत्कालीन नारी के मनोवेगों से भिन्न कदापि न होगा। अपने निबन्ध में कमला बाई देशपाण्डे* ने मराठी भाषा की दृष्टि से इस बात पर विचार किया है। अपौरुषेय वाङ्मय का विषय-विस्तार कहाँ तक है इस पर भी उन्होंने चर्चा की है। समग्र स्त्री-साहित्य को उन्होंने दो प्रकार से वर्गीकृत किया है :



गद्य और पद्य की दृष्टि से निम्नलिखित वर्गीकरण है :



उक्त वर्गीकरण एक भाषा विशेष की दृष्टि से किया गया है। समग्र रूप से भारतीय गीतों में अपौरुषेय वाङ्मय का विस्तार काफी बड़ा है। जन्म एवं बालक से सम्बन्धित सोहर, सोहिलो, अच्छा, पालना, सखना, लोरियाँ, बालक के गीत, सावन के गीत झूलने, कजरी झम्मरि, सनकाजी, झूमर, ऋतु के गीत, देवी-देवताओं की स्तुति-गीत, विवाह-गीत, (जिनके अनेक प्रकार हैं), यमुना के गीत ऋतु-गीत, व्रत-उपवास और त्यौहारों गीत, पति-पत्नी के प्रेम-सम्बन्धी गीत, पनिहारिन, भाई बहन के गीत, बालिकाओं के झूलने, खेलने, सखी (मालवा), पहेलियाँ आदि अनेक प्रकार के गीत हैं। गद्य के अन्तर्गत व्रत, त्यौहार, मनोरंजन आदि से सम्बन्धित कहानियाँ, कहावतें (किस्सा) इत्यादि उल्लेखनीय हैं। भारतीय

जीवन में स्त्रियों की स्थिति चाहे सन्तोषजनक न हो किन्तु उक्त वाङ्मय के क्षेत्र में उनका सुदृढ़ प्रभुत्व अवश्य बढ़ा-चढ़ा है।

भारतीय लोक-साहित्य के अध्येताओं को स्त्रियों के लोक-साहित्य का अध्ययन साहित्य की दृष्टि से करते हुए उसे मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, आर्थिक एवं ऐतिहासिक पहलुओं की कसौटी पर भी कसना चाहिए। बच्चों से सन्तप्त, सास ननद और भौजाइ के तानों से पीड़ित, पति की अनुगामिनी, बेटे की न्योछावर और बुढ़ापे में उपेक्षिता नारी के भिन्न-भिन्न रूप उसी के वाङ्मय में मिलते हैं। मराठी में तो स्त्रियों के गीतों पर स्वतन्त्र रूप से विचार किया गया है। 'मालिनी चें गाणें', 'स्त्री गीत-रत्नाकर', 'स्त्री-गीतें' आदि इसी तरह के संग्रह हैं। इसके अतिरिक्त 'अपौरुषेय वाङ्मय अर्थात् स्त्री गीतें' कमला बाई देशपाण्डे का स्वतन्त्र आलोचनात्मक निबन्ध है जिसके आधार पर प्रस्तुत लेख में चर्चा की जा रही है।

काल-निर्णय की समस्या

अपौरुषेय वाङ्मय का काल-निर्णय करना दुष्कर कार्य है। यदि इस तरह से प्रयत्न किया जाय तो निश्चय ही उपयोगी सामग्री सामने आ सकेगी। स्त्रियों के अधिकांश गीतों का जन्म घर में है। प्रायः घरों के सभी गीत अपौरुषेय हैं, यह स्वीकार कर लिया जाय तो अनुचित न होगा। खाली समय में स्त्रियाँ मिल-जुलकर प्रायः 'गीत जोड़ती हैं'। कोई एक बनाती है तो कोई आगामी पंक्तियाँ। यह सहज स्वभावगत स्त्रियों की वृत्ति कृषि-सभ्यता के आपद्-काल की अपेक्षा समृद्ध ग्राम्यवास में अधिक प्रभावपूर्ण होती है। जहाँ संघर्ष और दैनन्दिन जी-तोड़ परिश्रम करना पड़ता है वहाँ नारी को गीत जोड़ने का अवसर ही प्राप्त नहीं होता। गीतों के निर्माण में वंशगत प्रवृत्ति या व्यक्तिगत प्रयासों की अपेक्षा अधिक प्रभाव है। वैसे कुछ स्त्रियाँ स्वयं गीत जोड़ने में पटु होती हैं। उनमें इसकी प्रतिभा साधारण स्त्रियों की अपेक्षा अधिक होती है। अमुक गीत अमुक स्त्री का है और अमुक समय में बनाया गया था, आदि बातें सहज ही नहीं जानी

जा सकती। मध्यकालीन गीत तो अब मिलते भी नहीं हैं, तब हमें उनसे भी पूर्व के गीत कहाँ उपलब्ध हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में काल निर्णय की समस्या एक प्रमुख प्रश्न बनकर रह जाती है। गीतों में वर्णित प्रसंग और संकेतों से सम्बन्धित कालगत ज्ञान अवश्य हो जाता है। उदाहरणार्थ मुगलों के अत्याचारों का प्रकट करने वाला एक गीत प्रस्तुत है :

सात सहेलि चम्पा सिकिया के तीरैं
सिकिया सिरैं प रे रुतौली के पार जी।
आइगे लस्कर मुगल के
चम्पा परी अन्धियार जी ॥१॥
आज रितु आई गोरी ओखन की
चम्पा परी अन्धियार जी।
रुपिया पइसा क ढेर लागी है
मोहरा क लागी हैं पहार जी ॥२॥
छाड़ि न देउ चम्पा बेटी
बेटी दोही देस हमार जी।
रुपिया न लेबै पइसा न लेबै
मोहरा न लेबै पहार जी।
पूत न छोड़ बड़ चम्पारानी
जाहि संग करब बियाह जी ॥३॥
हँसि हँसि मोगला डोलिया फनावै
रोई-रोई चम्पा स रहि गई आइ जी।
जाहु तुम घर बाबुल
राखि हैं पगरी तुम्हार जी ॥४॥
डोलिया फँदाय मोगला लै के चला
बैठा अपने मकान जी।
गई चम्पा के रोलिया ओखाबा
रुपरौ के गहना के साथ जी।

ब्याह न कै चम्पारानी रानी हूँ बेगमवा की ।।५।।
रोम-रोम चम्पारानी के कहे
सुन मोगला मोरी बात ।
हम घम छीपी रसोइयाँ
जरि के करहु बेगमवा की ।।६।।
हँसि-हँसि मोगला डलवी मँगावै
रोइ रोइ चम्पा से रहि बाहि आय की ।
पिता मारि चम्पा मरि गई
चम्पा तो होई गई राम की ।।७।।
चम्पा के पिता सब अपने
पूजा से करिगा भगवान की ।
जरिगै मोगला कै दाढ़ी
कहाँ होइगा बनाम की ।।८।।

(बाराबंकी)[1]

पण्डित रामनरेश त्रिपाठी ने उक्त गीत का अर्थ इस प्रकार किया है :

"चम्पा अपनी कुछ बहनों के साथ तलैया के घाट पर सौंफ (सरफ्फो) बीन रही थी। इतने में मुगलों का लश्कर आ पहुँचा और उन्होंने चम्पा को पकड़ लिया ।।१।।

"इधर बाप भाई आ गए उधर चम्पा बन्दीखाने में पड़ी है। रुपयों की ढेरी लगी है। लाल मुहरें रखी हैं। हे मुगल, मेरी बेटी को छोड़ दो ।२।

"न हम रुपया लेंगे न पैसा, और न लाल मुहरें। चम्पारानी को हम नहीं दे सकते। इसके साथ ब्याह करेंगे ।३।

"मुगल हँस हँसकर डोली तैयार करा रहा है और रोते-रोते चम्पा से रहा नहीं जाता है। चम्पा ने कहा है—दादा, अपने घर जाओ, मैं तुम्हारी पगड़ी की लाज रखूँगी ।४।

"मुगल डोली में बैठाकर चम्पा को अपने घर ले गया। गेहूँ और

1 हमारा ग्राम साहित्य : रामनरेश त्रिपाठी पृष्ठ १६७

चन्दन की रोटी बनाकर उसने ऊपर से उस पर गाय का मक्खन लगवाया और कहा—हे चन्दा रानी, यह जेवनार ले लो ।५।

"रो-रोकर चन्दारानी ने कहा—हे मुगल, मेरी बात सुन । मैं खाना बनाऊँ और तुम उठकर खाओ ।६।

"हँस-हँसकर मुगल ने ईंधन मँगाया । चन्दा से खड़े-खड़े रहा नहीं जाता । चन्दा चिता बनाकर जल गयी और राख हो गई ।७।

"चन्दा की चिता ऐसी धधकी कि घर-भर में धुआँ भर गया । मुगल की दाढ़ी जल गई और वह भी मर मिटा ।८।"

निश्चय ही उक्त गीत मुगलों के समय का है या उसके थोड़े बाद का । यह भी सम्भव है कि इसमें थोड़ा रूप परिवर्तन हो गया हो । सन् १८५७ के गदर की घटनाएँ तो गीतों में खूब मिलती हैं । कुँवरसिंह का ही गीत लीजिए ।[1] उसने विद्रोही सिपाहियों का साथ दिया था । कुँवरसिंह ने अंग्रेजों से कई लड़ाइयाँ लड़ीं । ब्रगलस की सेना से ५७ की २ अप्रैल को वह बुरी तरह घायल हुआ । घायल अवस्था में ही २१ अप्रैल को उसने कप्तान लिग्रांड की सेना से युद्ध किया । लिग्रांड मारा गया । तीन दिन बाद इसकी भी मृत्यु हो गई । सम्पूर्ण बिहार में कुँवरसिंह के गीत कई रूपों में प्रचलित हैं । सन्थालों के सैकड़ों गीत उपलब्ध हैं । राजस्थान तो ऐसे ऐतिहासिक गीतों का भण्डार है । पहाड़ी जातियों के गीतों में भी ऐतिहासिक घटना होने से काल-क्रम का सूत्र मिल सकता है ।

इसी प्रकार रेलगाड़ी, नये आभूषण, खादी-विषयक प्रसंग, गांधीजी का उल्लेख, नई वस्तुओं के नाम, स्थान-वर्णन, आदि संकेतों से गीतों के रचना समय का ज्ञान हो जाता है । कभी-कभी परम्परा से प्रचलित गीतों में भी नये शब्द स्थान पा जाते हैं, किन्तु इससे गीतों की आयु नहीं बदलती । पुरानी शैली नवीन शैली से भिन्न होती ही है । उसे पहचानने में कठिनाई नहीं होती । दो धाराओं का संयोग भी सरल हो सकता है—केवल रुचि और परख की आवश्यकता है । अधिकांश गीतों का काल निर्णय केवल अनुमान

१. देखिए 'कविता कौमुदी' (भाग ५) पृष्ठ ११०

गम्य ही अधिक सम्भव है। व्यक्ति-विशेष का नाम गीत में आ जाने से भी गीत का समय मिल जाता है। युद्ध की मँहगाई का परिणाम स्त्रियों के गीतों में उपयोगी वस्तुओं के उल्लेख के समय झलकता है। ऐसे कई गीत हमें उपलब्ध हुए हैं। सतियों से सम्बन्धित गीतों की भी कमी नहीं। काल निर्णय की दृष्टि से सतियों के गीत अत्यन्त ही उपयोगी हैं।

यह बताने की आवश्यकता नहीं कि प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर गीतों के गाये जाने के उल्लेख मिलते हैं। ११वीं शताब्दी के 'अभिलाषार्थ चिन्तामणि' ग्रन्थ में सोमदेव ने स्त्रियों द्वारा गीत गाने का उल्लेख किया है। 'संगीत-रत्नाकर' में 'ओवी' (मराठी) को एक गेय प्रकार बताया है, यद्यपि उस काल की 'ओवी' उपलब्ध नहीं है। गीतों की यह परम्परा अत्यन्त ही पुरानी है। जब हम अपौरुषेय गीतों पर विचार करते हैं तो हमें उनकी प्राचीनता पर पौरुषेय गीतों की अपेक्षा अधिक विश्वास करना पड़ता है। पुराने शब्दों के अनेक विकृत रूप आज के गीतों में मिलते हैं जो गीत की आयु की ओर संकेत करते हैं। शताब्दियों पूर्व के शब्द गीतों के माध्यम से चले आ रहे हैं। 'कथ' शब्द को ही लीजिए। इसका अर्थ है 'पति'। शब्द पुराना है। राजस्थान, मालवा, निमाड़, गुजरात, बुन्देलखण्ड, अवध आदि में इसका प्रयोग बराबर मिलता है। एक मराठी गीत में इसके प्रयोग को देखकर विश्वास किया जा सकता है कि गीत अधिक प्राचीन होगा :

> सासु बाई सासु बाई मला भावे सूप
> मला काम पुनवेम करीन दिसवेल
> सुप का आपुल्या कपाळा।

परम्परा से चले आते हुए गीतों में भाषागत फर्क नये शब्दों के कारण आ जाता है। किन्तु ऐसा केवल नगरों के निकटवर्ती गाँवों के गीतों में ही होता है। सुदूर ग्रामों के भीतर कम-से-कम चार पीढ़ी पुराने अर्थात् दो तीन शताब्दी पूर्व के गीत मिलते हैं।

गीत की तीन अवस्थाएँ

अपौरुषेय वाङ्मय में गीत निर्माण की तीन अवस्थाएँ स्पष्ट दीखती हैं—

१ लयबद्ध शब्द-रचना,

२. लयबद्ध शब्द-रचना में अर्थ की संगति, और

३ अर्थ-प्रधान लयबद्ध रचना।

मनुष्य में स्वभावतः नादप्रियता अवस्थित है। नादयुक्त शब्द-रचना की प्रथम स्थिति उसके लिए सहज सम्भव थी। विशेष ढंग से किसी बात को कहने का ज्ञान नाद में उत्पन्न हुआ। नाद के माध्यम से अर्थ की अवस्था प्रकट हुई। यह संगति अधिक उपयुक्त प्रतीत हुई। अर्थ के संसर्ग से नाद को महत्त्व मिलने लगा। नाद भी अर्थ पर कभी-कभी हावी होकर अपने प्रभुत्व को जताने का प्रयत्न करता रहा। यह दूसरी अवस्था थी जिसमें नाद और अर्थ के बीच विकास-क्रम की दृष्टि से संघर्ष हुआ। अन्तिम अवस्था में अर्थ का प्राधान्य हुआ और नाद का सहयोग उसके लिए अनिवार्य सिद्ध हुआ। आज जो गीत एवं कथाएँ प्राप्त हैं वे सभी सार्थक हैं। नाद उनके अर्थों को उत्कर्ष प्रदान करता है।

पहेलियाँ बच्चों के खेल-गीत, अथवा मध्यवर्ती उत्तर भारत की स्त्रियों के कमाली गीतों में अधिकांशतः लयबद्ध शब्द-रचना मिलती है। उदाहरणार्थ

सरर सरर सतरी सरकावे बाबा कौन
सीता चली सासरे मनावे बाबा कौन

(नदी)

× × ×

आसकम पासकम, चमूर का मट्ठो
गाय प मारकणो सूप प सिंगा

(*शहद का छत्ता*)

टेसू, झाँझी, हरता (निमाड़ में सरता), भड़ल्या, धमार्, गांगो, आदि पर्वों के गीतों में लयबद्धता के साथ अकल्पित संयोग एवं नाद

बार आने वाली टेक लय की स्थिति बनाने के लिए आवश्यक होती है। देखिए :

[1]

कगोद् कगोदु
काली व सुई
मारो बेरी भाई
कगोद्-कगोद्—

(निमाड़)

× × ×

खिनक खिनक खिन्नाई
गबर बावे बाम्हा पुड़े

× × ×

शालु की शाला की
चुम्मी मामी पखाली
पगला फू बाई पगला फू

उक्त उदाहरणों में रेखांकित पद अर्थहीन हैं। अर्थहीनता का यह लक्षण प्रथमावस्था का द्योतक है, यद्यपि इनमें आगामी अवस्थाएँ क्रमश: आ मिली हैं।

दूसरी अवस्था में शब्द-रचना में अर्थ की संगति आने लगी। एक पंक्ति के पश्चात् दूसरी पंक्ति सार्थक हो, इस बात का प्रयत्न गीतों में शुरू हुआ। टेक का सहारा छोड़ देना कभी सम्भव न था और न होगा। बिना टेक के आगामी पंक्तियों की दौड़ में बाधा पहुँचती है। सम्प्रयुक्त अर्थगत शब्द बिना उसके प्रगट हो ही नहीं सकते। यह तो वास्तव में 'पार्श्वसंगीत' का काम करती है।

स्त्रियों द्वारा रचित लोरी गीतों में बच्चों के अन्य गीतों की अपेक्षा अर्थ की मात्रा अधिक पाई जाती है। धुन अथवा टेक यहाँ केवल प्रमाण के हेतु प्रयुक्त होती है। वस्तुओं के नाम बार बार दुहराने अथवा नवीन वस्तुओं के नाम बोलने की प्रवृत्ति स्त्रियों और बालिकाओं के गीतों में सर्वकालीन

है। धर्म की संगति के साथ लघु कथानकों का प्रवेश भी हुआ। देव व झिम्मा, फेरा, फुगडीया या फेरा के गीतों (फेरी की गाणी) में वे प्राप्त होते हैं।

स्त्रियों के गीतों में जिन कथानकों का प्रवेश है वे उन्हीं के जीवन से सम्बन्धित हुए हैं। उल्लेखनीय पात्रों के माध्यम से स्त्रियाँ अपने मन की भावनाएँ गुम्फित कर देती हैं। इसी अवस्था में प्रश्नोत्तर प्रवृत्ति का भी विकास हुआ। विचारों का उत्तम प्रश्नोत्तर शैली के गीतों में लक्षणीय है।

मराठी गीतों में 'चाल' के गीत (समपदें वृत्त) व्यवस्थित छन्द-रचना है। अन्य गीतों में वैसी गति प्रायः शिथिल होती है। फेरी के गीतों के विषय में भी यही कहा जा सकता है। 'ओवी' पूर्णता को पहुँचा हुआ रूप है। सन्त ज्ञानेश्वर ने अपनी ओवी के सम्बन्ध में कहा था कि उसे जो गा सकता है वही गावे, अन्यथा पढ़कर ही रहे। 'ओवी' की व्यवस्था के पीछे यह परम्परा मराठी लोक-साहित्य में उल्लेखनीय है।

'उखाणा' मराठी लोक-साहित्य की दूसरी सम्पत्ति है। स्त्रियाँ प्रायः पुरुषों के नाम नहीं लेतीं। हिन्दू स्त्रियों का यह प्रधान लक्षण है। प्रसंग विशेष पर जब उन्हें अपने पति का नाम लेना पड़ता है तब मनोरंजक शब्द रचना के माध्यम से वे अपने पति का नाम व्यक्त करती हैं। ऐसा विश्वास है कि नाम लेने से पति की आयु क्षीण होती है। इसी कारण प्रथम बालक अथवा बालिका के नाम भी नहीं लिये जाते। उन्हें किसी अन्य नाम से पुकारा जाता है। ज्ञानेश्वर के समय 'उखाणा' परम्परा विद्यमान थी। 'रुक्मिणी स्वयंवर' में एकनाथ ने भी विवाह प्रसंग में इस परम्परा का यथोचित वर्णन किया है। 'उखाणा' अनेक रूप में सम्पूर्ण महाराष्ट्र समाज में प्रचलित है। इसमें नये सृजन के लिए मार्ग प्रशस्त है। 'उखाणा' का एक उदाहरण है —

चंपारण्या रानी चमकला काजवा
'शंकरराव' पाप या जवळा

'अपौरुषेय वाङ्मय', जैसा कि ऊपर बताया गया है, विभिन्न रूपों

में है। उसका विस्तार पुरुषों के लोक-साहित्य की अपेक्षा अच्छे विशाल है। गद्य के क्षेत्र में उपवास, व्रत, त्यौहार और अनुष्ठानिक लोक-कथाएँ आदि इसके अन्तर्गत आते हैं। इस दिशा में स्वतन्त्र ग्रन्थ हिन्दी तथा अन्य भाषाओं में अपेक्षित हैं। गुजराती में नर्मदाशंकर बालाशंकर द्वारा लिखित 'नागर स्त्रीओ माँ गावता गीत' और मारवाड़ी में ताराचन्द ओझा द्वारा सम्पादित 'मारवाड़ी स्त्री-गीत संग्रह' ध्यान देने योग्य ग्रन्थ हैं। प्राथमिक आवश्यकता स्वतन्त्र रूप से अपौरुषेय वाङ्मय के प्रकाशन की है। तत्पश्चात् उसका आलोच्य स्वरूप अपेक्षित होगा। हिन्दी के बृहत् क्षेत्र में इस अभाव की पूर्ति होनी चाहिए।

५

लोकगीत क्या है ?

ग्रे के कथनानुसार लोकगीत आदि-मानव का उल्लासमय संगीत है। गुफाओं में पनपते हुए मानव में जब थोड़ी-बहुत बुद्धि आई और उसके आधार पर उसमें भावनाओं के अंकुर फूटे तो व्यक्त करने के लिए उसने गीत का सहारा लेना प्रारम्भ किया। यही आदि-संगीत ग्रे के शब्दों में लोकगीत है। (This spontaneous music has been called Folk song) अंग्रेजी का शब्द Folk song (फोक सॉंग) जर्मनी के volkslied का अपभ्रंश है। समस्त जन-समाज में चेतन अचेतन रूप में जो भावनायें गीत बद्ध होकर व्यक्त हुई उनके लिए लोकगीत उपयुक्त शब्द है। ग्रिम के शब्दों में 'लोकगीत अपने आप बनते हैं।"

जन जीवन के भाव अभिव्यक्त तो होते हैं, किन्तु अंकित नहीं। जहाँ वे अंकित हो जाते हैं, देश, काल और परिस्थिति की छाया उनमें झलकती है। जीवन का रंग उनमें चमकता है। उनके अंकन में 'चलना और फिराइना' एक प्रकार से गति की सूचना का द्योतक है। गीतों के रूपों में जहाँ जन के भाव उठे हैं, वहाँ उनके भाव निखरकर बेकार नहीं गए। खेतों में, मन्दिरों, पहाड़ों, मैदानों या रास्तों में अपना घरों में, आपसी बातों में, विरह में, वंदना में, हल चलाते हुए, कोल्हू पर, युद्ध के समय, मेल-जूल या हंसी मजाक में, जहाँ भी हो अलग अलग अवसरों पर गीत बनकर उन्होंने

फूटे हैं और फूटकर लहलहाते-मचलते, नये शब्दों और भावों की जोड़-तोड़ के साथ कुछ समय तक टिकते अवश्य हैं। नये गीतों के साथ पिछले घुलते जाते हैं। नई पीढ़ी, नये भाव, यही गीतों की परम्परा है। गीतों में विज्ञान की तरह नहीं, मानव-संस्कृति का सामान्य और व्यापक भावों का उभार होता है। भावों की लड़ियाँ लम्बे-लम्बे खेतों-सी स्वच्छ पेड़ों की नंगी डालों-सी 'रफ' (Rough) और मिट्टी की तरह सत्य हैं।

गीतों की यह परम्परा तब तक जीवित है, जब तक मानव का अस्तित्व विद्यमान है। आदि-मानव के कण्ठ से जो विकृत भाव कभी निकले थे, कालान्तर में वे गीत बन गए। गीतों के प्रारम्भ के प्रति एक सम्भावना हमारे पास है पर उनके अन्त की कोई कल्पना नहीं। यह वह नदी धारा है जिसमें अनेक छोटी-मोटी धाराओं ने मिलकर उसे सागर की तरह गम्भीर बना लिया है। सदियों के भाव प्रतिघातों ने इसमें आश्रय पाया है। मन की विभिन्न स्थितियों ने इसमें अपने ताने-बाने बुने हैं। स्त्री-पुरुष ने थक-कर इसके माधुर्य में अपनी थकान मिटाई है। इसकी ध्वनि में बालक सोते हैं, जवानों में प्रेम की मस्ती आई है, बूढ़ों ने मन बहलाए हैं, वैरागियों ने उपदेशों का पान कराया है, विरही युवकों ने मन की कसक मिटाई है, विधवाओं ने अपने एकाकी जीवन में रस पाया है, पथिकों ने थकावटें दूर की हैं, किसानों ने अपने बड़े-बड़े खेत जोते हैं, मजदूरों ने विशाल महलों पर पत्थर चढ़ाए हैं और मौजियों ने चुटकुले छोड़े हैं।

आदि-काल में जब सामाजिक चेतना विकास की ओर गतिशील थी, उसी समय ऐसी कविता का जन्म हुआ जिसका जीवन से सम्बन्ध था। धीरे धीरे प्रकृति के कुछ भागों पर जब मानव की विजय के आसार प्रकट हुए तो गीतों में भी इस विजय के प्रति भावनाएँ व्यक्त हुईं। प्रकृति के विकराल रूप से परास्त होकर अकेला मानव उसके सामने झुका भी है। विभिन्न इकाइयों में इस प्रकार झुकने की अपेक्षा सामूहिक रूप से उसका मुकाबला करने की समझ थोड़े ही काल के बाद आ गई। संगठन का मूल्य और सामाजिकता की आवश्यकता को उसने समझा। अत सामाजिक तत्त्व को

लोकगीत—'प्रकृति के उद्गार'—छन्द-मण्डल से दूर, पारदर्शी हीरे की तरह स्वच्छ हैं। सरलता, रस, माधुर्य और लय इनके गुण हैं। प्रकृति के इन उद्गारों को सजाने में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों का अधिक हाथ रहा है। करुणा, हास्य, शृंगार आदि रसों से भरे हुए ये गीत कण्ठों से फूटकर युग-युगों से कण्ठों ही पर खेलते चले आ रहे हैं।

समय ने इन्हें कुचलने का प्रयत्न किया ये कुचले भी गए, पर वह अब तक भग्नावशेषों की भाँति मौजूद हैं। गीत बनते हैं और बिगड़ते हैं। इतिहास इनमें छिपा बैठा है। देश की तत्कालीन रीति-नीति की जानकारी हमें इन गीतों में मिलती है। मानव-जाति की विराट् भाव-व्यञ्जना इन गीतों की हर कड़ी पर व्याप्त है। नारी-हृदय की विशालता हम पग-पग पर इनमें पायेंगे। माता के हृदय में अपने बालक के प्रति उठने वाली सुहावनी लोरियाँ, प्रियतम के विरह में तड़पने वाली नव-वधू की तड़पन, विधवा की कसक, कन्या का हास्य, भूखे की कराह, पति-पत्नी के मिलन-विरह की कथा, उलाहने, पहेलियाँ आदि इनमें ओत-प्रोत हैं। मानव का इन गीतों से जन्म से लगाकर मृत्यु तक अटूट सम्बन्ध है। जन्म पर 'सोहर' और 'बधावा' के गीत, विवाह पर 'बन्ना बन्नी', हल्दी आदि के गीत, जनेऊ पर गीत, परदेश-गमन पर गीत, आगमन पर गीत और यहाँ तक कि मृत्यु पर भी गीतों का गाया जाना एक रिवाज के रूप में मिलता है।

लोकगीतों का अपना विशेष महत्त्व है। इस सम्बन्ध में पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी के विचार उल्लेखनीय हैं। आपने लिखा है—'ग्राम-गीतों का समस्त महत्त्व उनके काव्य-सौन्दर्य तक ही सीमित नहीं है। इनका एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण काम है एक विशाल सभ्यता का उद्घाटन जो अब तक या तो विस्मृति के समुद्र में डूबी हुई है या गलत समझ ली गई है। आर्य आगमन के पूर्व बहुत ही समृद्ध आर्येतर सभ्यता भारतवर्ष में फैली हुई थी, उसके साथ ही और भी कितनी छोटी-मोटी सभ्यताएँ इस विशाल भू-भाग में फैली हुई थीं। आर्यों ने राजनीतिक रूप में तो भारतवर्ष को जीत लिया था, पर वे सांस्कृतिक रूप में पूर्ण रूप से यहाँ के मूल निवासियों के

द्वारा प्रभावित हो गए थे। यहाँ की मूल सभ्यता वैदिक सभ्यता से एकदम भिन्न थी और आज भी लोकाचार, स्त्री-आचार, पौराणिक परम्परा आदि के रूप में विद्यमान है। ग्रामगीत इस सभ्यता के वेद (श्रुति) हैं। वेद भी तो अपने आरम्भिक युग में श्रुति कहलाते थे। वेद भी आर्यों की महान् जाति के गीत ही थे और ग्रामगीतों की भाँति ही सुन-सुनकर याद किये जाते थे। सौभाग्यवश वेदों ने बाद में श्रुति से उतरकर लिपि का रूप धारण कर लिया पर हमारे ग्रामगीत अब भी 'श्रुति' ही हैं। जिस प्रकार वेदों द्वारा आर्य-सभ्यता का ज्ञान होता है, उसी प्रकार ग्रामगीतों द्वारा आर्य-पूर्व सभ्यता का ज्ञान हो सकता है। ईंट पत्थर के प्रेमी विद्वान यदि धृष्टता न समझें, तो जोर देकर कहा जा सकता है कि ग्रामगीत का महत्व 'मोहेन-जोदड़ो' से कहीं अधिक है। मोहेन-जोदड़ो जैसे भग्न-स्तूप ग्रामगीतों के महत्व का ज्ञान दे सकते हैं।"[1]

लोकगीत हमारे विकास के इतिहास की अमूल्य निधि के समान हैं। मानवीय हृदय की उथल पुथल, सुख-दुःख, संयोग वियोग आदि की समस्त बातें भिन्न-भिन्न प्रणाली के गीतों के रूप में व्यक्त हुए हैं। इस अमूल्य रत्न-राशि को यदि हम जमा न कर सके तो आगे इनका स्वरूप विकृत होकर नष्ट जायगा। "देश का सच्चा इतिहास और उसका नैतिक और सामाजिक आदर्श इन गीतों में ऐसा सुरक्षित है कि इनका नाश हमारे लिए दुर्भाग्य की बात होगी।"[2]

लोकगीतों में भावों का अशेष भण्डार है। युग-युग के भाव इनमें भरे पड़े हैं। समाज का कौनसा ऐसा टुकड़ा है जिसका रूप इनमें न उतरा हो। जीवन में कोमल और कठोर की सीमाएँ इनमें मिलती हैं। अनुभव की सामग्री और उत्साह इनमें कूट-कूट कर भरा होता है। भावों की गहराई और

1 'मुचोलिपयी लोकगीतों का परिचय': श्यामाचरण दुबे। पुस्तक की भूमिका से उद्धृत

2 बाबा काशीनाथ के लेख से उद्धृत, 'कविता कौमुदी', भाग ५ श्री रामनरेश त्रिपाठी, पृष्ठ ७७

व्यापकता इनमें ऐसे कलात्मक ढंग से घुल-मिल गए हैं कि आश्चर्य होता है। ठीक 'सागर में गागर' की उक्ति इनके साथ घटित होती है।

लोकगीत लय के बिना अधूरा है। एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका के एक लेखक का कथन है—"कोई भी गीत, यहाँ तक कि कैसा ही संगीत, लोक गीतों पर निर्भर है। संगीत की दृष्टि से ये गीत बिना किसी वाद्य-यन्त्र के स्वाभाविक हृदयस्पर्शी स्वर का प्रतिनिधित्व करते हैं। लोकगीत मानव-जाति के हृदय से, अपने अवयवों द्वारा अथवा प्रकृति-प्रदत्त आवाज के द्वारा स्वाभाविक रूप से उमड़कर प्रकट होने वाला संगीत है, जो हृदय का भाव व्यक्त करने के लिए भावों की अभिव्यक्ति के निमित्त बोलने की अपेक्षा गाकर गीतों द्वारा व्यक्त किया जाता है।"

लोकगीत की व्याख्या कई विद्वानों ने की है। मराठी के उन्नायक लेखक डॉ॰ सदाशिव फड़के का कथन है—"शास्त्रीय नियमों की विशेष परवाह न करके सामान्य लोक-व्यवहार के उपयोग में लाने के लिए मानव अपने आनन्द-तरंग में जो छन्दोबद्ध वाणी सहज उद्भूत करता है, वही लोकगीत है।"[1]

विश्वभारती के उड़िया साहित्य के प्राध्यापक श्री कुञ्जबिहारी दास के शब्दों में "A Folk song is a spontaneous outflow of life of the people that live in more or less primitive condition outside the sphere of sophisticated influences."

(लोकगीत लोगों के उस जीवन की प्रवाहात्मक अभिव्यक्ति है, जो सुसभ्य प्रभावों से बाहर कम या अधिक रूप में आदिम अवस्था में है।)

देवेन्द्र सत्यार्थी लोकगीत का मूल जातीय संगीत में पाते हैं—"Its seed lies in community singing."[3]

---

१ लोक-संस्कृति विशेषांक, सम्मेलन-पत्रिका, मराठी लोकगीत, पृष्ठ ११०

२ ए स्टडी आफ ओरिसन फोकलोर, पृष्ठ 1

३ मीट माई पीपल, पृष्ठ ११९

विशेषताएँ

डॉक्टर पशुनाथ सरकार ने लोकगीत की विशेषताएँ निम्न शब्दों में व्यक्त की हैं—"Rapidity of movement, simplicity of diction, primary emotions of universal appeal action rather than subtle analysis broad striking characterisation, thumb-nail sketches of background and the sparest use (or rather complete avoidance) of literary artifices—these are the essential requisites of the true ballad."

(प्रबन्ध की द्रुत गति, शब्द विन्यास की सादगी, विश्वव्यापक मर्मस्पर्शी प्राकृतिक और आदिम मनोवेग, सूक्ष्म किन्तु प्रभावोत्पादक चरित्र-चित्रण, पीठस्थली अथवा बैकग्राउंड का स्थूल अंकन साहित्यिक कृत्रिमताओं का न्यूनातिन्यून प्रयोग या सर्वथा बहिष्कार—सच्चे लोकगीत की ये नितान्त आवश्यक विशेषताएँ हैं।)

अन्य विद्वान् मोफिट ऑपर्ट ने सन् १८९३-९४ में लोकगीतों के सामान्य लक्षणों पर लोकगीत संग्राहकों के समक्ष अपने विचार प्रकट किए थे। उनके अनुसार लोकगीतों के प्रमुख लक्षण निम्नलिखित हैं—

१ अन्त्यानुप्रास के स्थान पर ध्वनि-साम्य का प्रयोग[1]
२ पुनरुक्ति (कथोपकथन में)
३ तीन, पाँच, सात आदि संख्याओं का बार बार प्रयोग तथा
४ दैनिक व्यवहार की वस्तुओं को सोने-रूपे की बताना।

भारतीय गीतों में इन लक्षणों के अतिरिक्त और भी लक्षण उल्लेखनीय हैं, जिन पर नीचे प्रकाश डाला जा रहा है।

नाम ग्रहण की प्रवृत्ति—यह प्रवृत्ति प्राचीनता की द्योतक है। गाँवों के नाम, कुटुम्बियों के नाम, सिपाहियों के नाम, दैनिक व्यवहार की वस्तुओं के नाम आदि गीतों में बार-बार आते हैं। इन नामों से गीत के देश का ज्ञान हो जाता है। कतिपय नाम अवश्य परम्परागत गीतों में बार-बार दोहराए जाते हैं, पर नये नामों का भी उनमें प्रवेश स्वाभाविक है।

१. देखिए, [illegible], पृष्ठ [illegible]

बाट जोहना—ऊँची अटारी पर चढ़कर बाट जोहना। यह कृषि-सभ्यता के उस युग का संकेत है जब कि गाँव बस रहे थे। दूर की वस्तुओं को देखने के लिए ऊँचे वृक्ष, डूँगर अथवा समृद्ध ग्रामों में ऊँची अटारी पर चढ़ना पड़ता था। बाट जोहने की यह रुचि भारतीय इतिहास में कलात्मक चित्रों की प्रेरक रही है।

प्रश्नोत्तर प्रवृत्ति—सीधे प्रश्नों के सीधे उत्तर। गीतों में यह प्रश्नोत्तर प्रणाली सादगी और विकाररहित सामाजिक भावना से सम्बन्धित है।

संख्या—सात, नौ, पाँच, चार, आदि संख्याओं के अतिरिक्त छत्तीस और बत्तीस संख्याओं का भारतीय गीतों में अनेक बार उल्लेख प्राप्त होता है।

सर्वमान्य सिद्धान्तों के अनुसार लोकगीतों की अन्य विशेषताएँ भी हैं जो सभी देशों के सभी गीतों पर लागू होती हैं। इस सम्बन्ध में सबसे पहले हमें लोकगीतों को कलागीतों से पृथक करना होगा। कलागीत साहित्य के अंग हैं, पर लोकगीत अनुभूति से सम्बन्धित हैं। लोक-कविता कलायुक्त काव्य से क्या सर्वथा भिन्न है? कहीं-कहीं भारतीय गीत परम्परा में हमारे साहित्य के दोनों अंग एक-दूसरे को स्पर्श करते हुए दीखते हैं। सन्त साहित्य का अधिकांश परम्परायुक्त होकर भी लोक से इस तरह घुला-मिला है कि उसे हम कला की कोटि में स्वीकार करते हुए भी लोक की ही सम्पत्ति कह सकते हैं। कुछ पाश्चात्य विद्वान् भी मौखिक परम्परा से प्राप्त गीत-साहित्य को कलापूर्ण साहित्य में नहीं मानते हैं। कतिपय भारतीय विद्वानों की भी यही धारणा है। पर संकुचित विचारों से ऊपर उठकर इस विषय में सोचना चाहिए। ।साहित्य लोक की वस्तु है। स्वाभाविक रूप से परम्परागत अथवा पैतृक सम्पत्ति होकर किन्हीं अंशों में कला उन्हें छू लेती है। उसी भाँति कला-गीत अपने मूल रूप में लोक-भावनाओं से परे नहीं हैं। दोनों की समन्वित स्थिति ही रस-सृष्टि का कारण होता है।

लोकगीतों की परम्परा मौखिक रूप में ही अधिक स्वीकृत है। अभी

में हमारी गीत-थाती पर बिखरे हुए हैं। प्रत्येक विषय के, प्रत्येक समय के, प्रत्येक भावों के गीत उपलब्ध हैं। प्रो० किटरिज का कहना है कि शिक्षा इस मौखिक साहित्य की शत्रु है। सभ्यता उसे गति से नष्ट करती है। कोई भी व्यक्ति अथवा जाति ज्यों ही लिखना-पढ़ना जान लेती है त्यों ही वह अपनी परम्परागत निधि को हेय समझने लगती है। निःसन्देह शिक्षा और सभ्यता की वृद्धि के साथ हम लोक-साहित्य को इसी कारण से लुप्त होते हुए देख रहे हैं।

लोकगीतों में व्यक्ति का महत्त्व नहीं होता। उन्हें समूह द्वारा निर्मित माना जाता है। इसलिए व्यक्तित्व का अभाव और समूह अथवा जातीय विशेषताओं के लक्षण उनमें मिलते हैं।

संक्षेप में (१) अज्ञातमयता, (२) सामूहिक भाव-भूमि (३) परम्परा-त्मकता अथवा मौखिक-परम्परा द्वारा, (४) रूढ़ अतिशयोक्ति, और (५) संगीतात्मकता आदि गीतों की विशेषताएँ हैं।

एक विद्वान् के शब्दों में लोकगीत इस प्रकार के होते हैं—

(1) anonymous (2) familiar to every one, (3) reflect the social values of the group (4) are learnt as a part of teaching.[1]

(नामरहित, सर्वकालीन, समूह के सामाजिक मूल्य को व्यक्त करने वाले और उपदेशात्मक।)

भारतीय गीतों में इन सब विशेषताओं के अतिरिक्त रस-सृष्टि का वैशिष्ट्य है। इसीलिए वे आज भी सभ्य-समाज के हृदय को छूने की सामर्थ्य रखते हैं।

लोकगीतों का ऐतिह्य

लोकगीत वैसे तो मानव-समाज के विकास के साथ पनपने वाली मौखिक सम्पत्ति है, पर उसके भी क्रमशः अध्याय की एक धारा है। सभी

---

१ जॉन एफ० एम्ब्री, जापानीज पीजण्ट सौंग्स, पृष्ठ ९

देशों में लोकगीतों का विकास समान रूप से हुआ है। ज्यों-ज्यों शब्द में अभिव्यक्ति का बल आता गया लोकगीतों में संगीत के माध्यम से समाज की भाव-धारा प्रकट होती गई। प्राचीन ग्रन्थों में इनके विकास की कहानी अस्पष्ट रूप में मिलती है। जहाँ तक भारतीय गीतों का प्रश्न है लोकगीतों के गाये जाने के अनेक उल्लेख उनमें पाये जाते हैं। भा- भारतीय जन भी धरती के अन्य जन के साथ इस दिशा में बराबर सहयोगी रहा है, अतएव उसका सम्बन्ध इस बड़े दायरे में भुला नहीं सकते। धरती पर जहाँ-जहाँ मानव-समाज संगठित हुए, वहीं लोकगीत पनपे और परम्परा की थाती बनकर चलते रहे। (ऋग्वेद में 'गाथिन्' शब्द गाने वाले के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। विवाह के समय गाये जाने वाले गीतों के लिए 'रैभी' या 'नाराशंसी' शब्द उपलब्ध है। इस प्रकार समस्त गाथाएँ अवसर पर सामाजिक अवसरों पर गाई जाने योग्य होती थीं। इनसे हमें लोकगीतों के तत्कालीन स्वरूप का संकेत मिलता है। ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थों में भी अनेक उल्लेख उपलब्ध हैं। ऐतरेय ब्राह्मण ने 'ऋक्' और 'गाथा' में भेद स्पष्ट किया है। 'ऋक्' का सम्बन्ध 'दैवी' से है, गाथा का 'मानुषी' से, अतएव 'गाथा' ही प्रचलित अर्थों में लोकगीत के निकट है।

गाथाओं की इस परम्परा का रूप भारतीय साहित्य में दूर तक मिलता है। महाभारत के आदि-पर्व की अनेक गाथाएँ बहुत पूर्व की प्रतीत होती हैं। इसी तरह 'ऐतरेय ब्राह्मण', 'मैत्रायणी संहिता', 'पारस्कर गृह्यसूत्र', 'आश्वलायन गृह्यसूत्र', 'वाल्मीकीय रामायण', 'पाली जातक', 'श्रीमद्भागवत', आदि प्राचीन ग्रन्थों में गाथाओं की परम्परा के दर्शन मिलते हैं।

हाल की 'गाथा सप्तशती' के समय में लोकगीतों का महत्त्व बढ़ने लगा। अपभ्रंश के विकास ने लोक-प्रचलित वाणी की महत्ता घोषित की। निस्सन्देह इस समय लोकगीतों को साहित्यिक महत्त्व अवश्य मिला होगा। प्राचीन ग्रन्थों में गीतों के गाये जाने के अनेक उल्लेख मिलते हैं।

भागवतकार ने लिखा है—

> कदाचिदौत्थानिककौतुकाप्लवे
> जन्मर्क्षयोगे समवेतयोषिताम् ।
> वादित्रगीतद्विजमन्त्रवाचकै-
> श्चकार सूनोरभिषेचनं सती ॥

इससे जन्म-दिवस के उपलक्ष में गीतों के प्रचलित होने का स्पष्ट उल्लेख है। विल्हण के शब्दों में—

> विलासमसृणोल्लसन्मुसललोलदोः कन्दली ।
> परस्परपरिस्खलद्वलयनिःस्वनोद्बन्धुराः ॥
> लसन्ति कल हुंकृतिप्रसभकम्पितोरः स्थल
> त्रुटद्गमकसंकुलाः कलमकण्डनी गीतयः ॥

संस्कृत की कवयित्री ने उक्त पंक्तियों में धान कूटने वाली स्त्रियों के गान का वर्णन किया है। वे अपने हाथ में *मूसल* धारण किये हुए गान कर रही हैं। मूसल के उठने-गिरने व हाथ की चूड़ियों से ध्वनि निकलती है और हुंकार से गान में गति मिलती है।

नैषधचरित में श्री हर्ष ने भी स्त्रियों द्वारा गाये जाने वाले गीतों का वर्णन किया है। इस प्रकार गीतों के गाये जाने के संकेत दूर तक साहित्य में उपलब्ध हैं। तुलसीदास ने भी अपनी रचनाओं में गीत-गान का उल्लेख किया है—

> चली संग लै सखी सयानी।
> गावत गीत मनोहर बानी ॥

उक्त शब्दों से गीत के प्रचलन का ज्ञान उपलब्ध हो जाता है, किन्तु गीत के बोल और गाने की विधियों का पता नहीं चलता। अवसर अवसर के गीत प्रचलित थे। स्त्रियों और पुरुषों द्वारा गीत गाये जाते थे। गाने वाले समूह का रूप मिल जाना सहज ही है। यदि यह विश्वास से कहा जाय कि प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में लोक से सम्बन्धी अनेक सामग्री समय पर परिष्कृत करके संकलित की गई है तो अत्युक्ति न होगी।

गीतों के प्रकार

लोकगीतों का सामान्य वर्गीकरण (१) जातियों की दृष्टि से, (२) संस्कारों और प्रथाओं की दृष्टि से (३) धार्मिक विश्वासों की दृष्टि से, (४) काम के सम्बन्ध की दृष्टि से, तथा (५) रस-सृष्टि की दृष्टि से किया जा सकता है। यहाँ जब भारतीय गीतों के वर्गीकरण का प्रश्न है, इस बात का प्रयत्न किया गया है कि उन्हें श्रेणियों में विभक्त किया जाय। पण्डित राम-नरेश त्रिपाठी ने गीतों को (१) संस्कार-सम्बन्धी गीत, (२) चक्की और चरखे के गीत, (३) धर्मगीत—त्यौहारों पर गाये जाने वाले गीत, भजन, आदि, (४) ऋतु-सम्बन्धी गीत-सावन, फागुन और चैत के गीत, (५) खेती के गीत, (६) भिखमंगों के गीत, (७) मेले के गीत (८) भिन्न-भिन्न जातियों के गीत, जैसे अहीर, चमार, धोबी, पासी, नाई, कुम्हार, मुसहर आदि, (९) वीर-गाथा—जैसे, आल्हा, लोरिक, हीर-राँझा ढोला-मारू, आदि, (१०) गीत-कथा—छोटी-छोटी कहानियाँ जो गा-गाकर कही जाती हैं और (११) अनुभव के वचन—जिनमें घाघ, भड्डरी आदि ११ किस्मों में विभक्त किया है।

कुछ वर्ष पूर्व मध्यभारत के इतिहास-शोधक श्री भास्कर रामचन्द्र भालेराव ने गीत-संग्रह की एक योजना बनाई थी। उस समय उन्होंने गीतों की एक लम्बी सूची प्रकाशित की जिसे यहाँ उद्धृत करना प्रासंगिक है। लोकगीतों को चार बड़े समूहों में उन्होंने बाँटा है। यद्यपि ऐसे समूह और भी प्रस्तुत किए जा सकते हैं, किन्तु समग्र रूप से गीतों की एक बड़ी सूची प्रथम उपलब्ध होना अनिवार्य है। श्री रामचन्द्र भालेराव की सूची इस प्रकार है :—

ग्रामगीतों के प्रकार

१ संस्कार विषयक—(१) पुत्र जन्म सोहर, (२) पालना के गीत, (३) चौक के गीत, (४) नाम के गीत, (५) बरोपनी-जैमेरा पौंचन के गीत (६) मुण्डन, (७) जनेऊ, (८) मामा के यहाँ पहली बार जाने के गीत, (९) पहली बार

बरात में जाने के गीत, (१०) तोरण, (११) विवाह, (१२) द्विरागमन, (१३) त्रिरागमन अर्थात् पीने के गीत, (१४) समधियों के आने के गीत, (१५) सीमन्त, देवस्थापन, पुराण बैठाने, कूपखनन, गृहारम्भ के गीत, (१६) तीर्थ-यात्रा और गमन-आगमन के गीत, (१७) अन्नप्राशन के गीत, (१८) पढ़ने के गीत, (१९) अमरती-गर्भवती स्त्री विषयक, (२०) माता पूजने के गीत-भैरू, (२१) बंकमार, (२२) पतक पौंधना व व्यासना, (२३) मरती या हाल के गीत (साँप काटने पर) (२४) मेले के गीत, (२५) जन्मगाँठ के गीत, (२६) सती स्थापना के गीत।

२ मासवारी गीत—(१) बारह मासा, (२) गोरला-गौरम-गौर गरिमन, (३) रामलोमो, (४) आखातीज, (५) दशहरा (कैद आखिर), (६) देव सामी, देवउठान, (७) सावन हिंडोला, (८) सांझी, (सांझी देवी के गीत), (९) भर्तोम्बी, (१) गीता-मिट्टी के गीत—टेसू, (११) कृष्णजन्माष्टमी, (१२) करवा चौथ, (१३) महालक्ष्मी (१४) बछुला कूप, (१५) मोर कूप, (१६) गोवर्धन (१७) गनगौर, (१८) कार्तिक और माघ-स्नान के गीत, (१९) होली, (२०) आठों आठें धार्मिक के गीत (२१) क्वारिया तीज, भादवा (२२) भुजरिया।

३ सामयिक-ऐतिहासिक—(१) पन्नाराव, (२) मेला छत्ता, (३) ढोला मारू, (४) हरदौल, (५) बाबू के गीत (६) चारदेव के गीत, (७) ईसर के गीत, (८) हीरामन, (९) बगड़ा, (१०) मसानेब, (११) पंडव मेरबन, (१२) बारहर पोर, (१३) अमरत, (१४) हस्तों के पुत्रों के गीत, (१५) कन्हैया, (१६) लाखा फूलाण, (१७) गोरा बादल, (१८) मुझारीदास, (१९) गालीराम पथा, (२०) पाबूजी के गीत, (२१) राजा बेगड़, (२२) मोरजावो, (२३) तेजाजी, (२४) गोगाजी, (२५) भैरूजी।

४ विविध—(१) खेती की कहावतें, (२) अन्न की फसल खत्म होने के गीत (३) चाकी पूजने के गीत, (४) बात व पहेली के गीत, (५) लावनी, (६) रसिया, (७) ख्याल, (८) झूमर, (९) दादरे-ख्याली, (१०) चुटटे, (११) सवैये, (१२) भजन, (१३) कवित्त, (१४) निम्न, (१५) गीत।

लोकगीतों का विषयानुसार वर्गीकरण काफी विस्तृत है। मानव के जन्म से उनका क्षेत्र प्रारम्भ होकर मृत्यु पर समाप्त होता है। अतः उपरोक्त सूची भी पर्याप्त नहीं है। इसमें अनेक प्रान्तों के गीतों के नाम छूट गए हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से भारतीय लोकगीतों का वर्गीकरण संलग्न तालिका से अधिक स्पष्ट हो सकेगा।

६

ग्रामगीत : लोकगीत : जनगीत

पारिभाषिक प्रयोग पर विचार

राजस्थानी लोक-साहित्य के उन्नायक स्वर्गीय श्री सूर्यकरण पारीक ने 'राजस्थानी लोकगीत' (संवत् १९९९) पुस्तिका के प्रारम्भिक पृष्ठ की पाद टिप्पणी में 'लोकगीत' एवं 'ग्रामगीत' शब्दों के समानार्थी प्रयोग के विषय में लिखते हुए हिन्दी में उस समय तक की इस प्रचलित मान्यता को कदाचित् प्रथम बार भंग करने का प्रयत्न किया। आपने लिखा है—

"कुछ लोगों ने लोकगीतों को 'ग्रामगीत' भी कहा है। परन्तु हमारे ख्याल से लोकगीतों को ग्राम की संकुचित सीमा में बाँधना उनके व्यापकत्व को कम करना है। ग्राम और नगरों के भेद अर्वाचीन काल में पड़े हैं। गीतों की रचना में ग्राम और नगर का इतना हाथ नहीं है जितना कि सर्वसाधारण का—'लोक' का।"[1]

इससे स्पष्ट है कि लगभग दस वर्ष पूर्व हिन्दी में 'ग्रामगीत' शब्द प्रचार में आ गया था। इससे बहुत पहले पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने 'ग्रामगीत' शब्द का ही प्रयोग किया है। किन्तु पारीकजी ने सन् १९१८ में राजस्थान रिसर्च सोसायटी, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित राजस्थानी गीतों के

१ प्रथम संस्करण, पृष्ठ १

वृहद् संग्रह को 'राजस्थान के लोकगीत'[1] शीर्षक से ही अभिहित किया। यद्यपि इससे चार वर्ष पूर्व राजस्थान के श्री जगदीशसिंह गेहलोत द्वारा संकलित मारवाड़ी गीतों का शीर्षक 'मारवाड़ी ग्रामगीत' ही था, अतएव सन् १९४० के लगभग 'ग्रामगीत' और 'लोकगीत' शब्दों के व्यवहृत प्रयोग-विषयक प्रश्न का उठ जाना स्वाभाविक था। यह प्रश्न मुख्यतः 'लोक' शब्द से सम्बन्धित रहा। इसमें सन्देह नहीं कि अंग्रेजी के 'फ़ोक' (Folk) शब्द के पर्यायस्वरूप हिन्दी में अन्य प्रान्तीय भाषाओं की भाँति 'लोक' शब्द का व्यवहार आरम्भ हुआ। अंग्रेजी में 'फ़ोक' का अर्थ है लोग, राष्ट्र, जाति, सर्व-साधारण अथवा वर्ग-विशेष। इसी शब्द से बने 'फ़ोक-लिटरेचर', 'फ़ोकलोर', 'फ़ोकटेल्स', 'फ़ोकसांग' आदि शब्दों के अनुरूप 'लोक-साहित्य', 'लोक-वार्ता', 'लोक-कथा', 'लोकगीत' आदि शब्द हिन्दी में गढ़े गए। पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में 'लोक' शब्द का अर्थ नगरों और ग्रामों में फैली हुई समूची जनता है, जिसका आधार पोथियाँ नहीं हैं।'[2] इसी व्यापक अर्थ में गीत के साथ 'लोक' शब्द जोड़ा जाना अभीष्ट प्रतीत होता है।

पण्डित रामनरेश त्रिपाठी ने सन् १९२४ के पश्चात् उत्तर-भारत में गीत-संकलन का आन्दोलन किया। वे सन् १९२७ (८ नवम्बर) को प्रयाग से बम्बई रवाना हुए। वहाँ जाकर आपने गुजराती और मराठी गीतों की पुस्तकें खरीदीं। तब तक मराठी और गुजराती में 'लोकगीत' शब्द का प्रयोग होने लगा था। विशेषतः गुजराती में यह शब्द बहुत परिचित-सा हो चुका था, क्योंकि श्री झवेरचन्द मेघाणी के सत् प्रयत्नों से लोक-साहित्य की ओर सन् '२१ के पहले ही गुजराती विद्वानों की दृष्टि जा चुकी थी। उक्त सन् में प्रकाशित श्री मेघाणीजी की पुस्तक 'सोरठी

१ यह ग्रन्थ दो भागों में प्रकाशित है। श्री पारीक के अतिरिक्त ठाकुर रामसिंह एवं नरोत्तम स्वामी भी इसके सम्पादक हैं

२ 'जनपद' त्रैमासिक (खंड १), लोक-साहित्य का अध्ययन पृष्ठ ६६

प्रचार' के प्रथम भाग के 'दो-बोल' (दो शब्द) में इस प्रकार के पूर्व प्रयत्नों का उल्लेख किया गया है। सन् १९१० के लगभग रावजीत राम मेहता लिखित ग्रन्थ 'लोक-साहित्य' के नाम से ही प्रकाश में आ चुका था। श्री देवेन्द्र सत्यार्थी जो इन दिनों अपने लेखों द्वारा प्रसिद्ध हो रहे थे, सन् '३६ तक 'ग्रामगीत' शब्द का ही प्रयोग करते रहे।[1] इस सन् से काफी पहले श्री त्रिपाठीजी का गीत-संग्रह 'कविता-कौमुदी' (५ वां भाग) प्रकाशित हुआ था।[2] उसमें 'ग्रामगीत' शब्द ही प्रयुक्त हुआ है 'लोकगीत' का तो संकेत भी नहीं है। उसमें अंग्रेजी के 'फोकसांग' का उल्लेख अवश्य है, जिसका हिन्दी अनुवाद आपने 'ग्रामगीत' ही किया है। श्री रवि ठाकुर द्वारा लिखित एक पत्र में प्रयुक्त 'रूरल सांग' (Rural Song) और 'फोक-लिटरेचर' (Folk literature) के पर्याय भी त्रिपाठीजी ने क्रमशः 'ग्रामगीत' और 'ग्राम-साहित्य' लिखे हैं। अब 'फोकसांग' और 'रूरल सांग' दोनों ही त्रिपाठीजी के अनुसार 'ग्रामगीत' ही हैं। इतना ही नहीं, आपने श्री शरत्चन्द्रराय द्वारा प्रयुक्त 'फोकलोर' (Folk lore) का अनुवाद भी 'ग्रामगीत' ही किया है।[3] डॉ० सत्येन्द्र ने 'फोकसांग' के लिए 'ग्रामगीत' और 'फोकलोर' के लिए 'गीतकथा' का प्रयोग किया है।[4] इन शब्दों के मिश्रित प्रयोग की समस्या अधिकांश में आज भी बनी हुई है। आज भी भूल से लोकगीत को 'ग्रामगीत' और लोक-साहित्य को 'जन-साहित्य' कहा जाता है।[5] अस्तु, जहाँ तक हिन्दी

1 देखिए, 'हंस' (फरवरी १९३६) में प्रकाशित श्री देवेन्द्र सत्यार्थी का लेख—'हमारे ग्रामगीत'
2 प्रथम संस्करण संवत् १९८८ में प्रकाशित हुआ
3 देखिए त्रिपाठीजी को लिखे गए पत्र कविता-कौमुदी, ५ वाँ भाग पृष्ठ ७७-७८
4 ब्रज लोक-साहित्य का अध्ययन, पृष्ठ ३६
5 देखिए, काका कालेलकर लिखित 'जीवन विहार' (१९३७) के निबन्ध 'लोकगीत (ग्रामगीत)' तथा 'हमारा लोक-साहित्य (जन-साहित्य)'

का प्रश्न है श्री त्रिपाठीजी का 'ग्रामगीत' के प्रति विशेष मोह है। उन्होंने इस विषय पर कुछ दिन पूर्व पुनः विचार किया और 'ग्रामगीत' शब्द को ही अधिक उपयुक्त बताया है। आपने लिखा है—"मैंने गीतों का नामकरण 'ग्रामगीत' शब्द से किया है, क्योंकि गीत तो ग्राम की सम्पत्ति हैं, शहरों में तो वे गये हैं, जन्मे नहीं; फिर ग्रामों का यह गौरव उनसे क्यों छीना जाय? ग्रामगीत तो शहरों में भी प्रत्येक संस्कार में, प्राचीन त्योहारों और धार्मिक उत्सवों में गाये जाते हैं। इससे मैं उचित समझता हूँ कि गाँवों की यह यादगार 'ग्रामगीत' शब्द द्वारा स्थायी हो जाय।"[1] गानों के प्रति विशेष प्रेमवश भावना-प्रधान होकर वह यह भी कह जाते हैं कि "मेरी राय में 'ग्रामगीत' किसी पुरुष या स्त्री विशेष की रचना नहीं हैं, बल्कि स्वयं प्रकृति का गान हैं" और "वेद की तरह 'ग्रामगीत' भी अपौरुषेय हैं।"[2] आपने इस भावावेशी कथन को आगे की पंक्तियों में व्यवस्थित करते हुए शहरी जनता द्वारा इस गौरव का स्वयं लूट पाना उन्हें स्वीकृत नहीं, क्योंकि 'लोकगीत' 'लोक' के संयोग से बना है और उसका तात्पर्य शहरी और ग्रामीण दोनों जनता है। पर चूँकि गीतों के रचयिता गाँव वाले हैं तो शहरी लोगों को श्रेय क्यों दिया जाय? "अतएव मैं फिर भी यह उचित समझता हूँ कि 'लोकगीत' की अपेक्षा 'ग्रामगीत' शब्द ज्यादा उपयुक्त और न्यायपूर्ण है।"[3]

'गोता-भाष्य दृष्टा' (संवत् १९९१) में लोकगीत 'गेय' का पर्याय-वाची बताया गया है। लेखक ने 'गीत-काव्य' को भी इसी कोटि में गिना है।[4] शिवसिंह ने अपनी संकुचित दृष्टि से इस विषय में अपनी मौलिक परिभाषा दी है। उनके शब्दों में 'इट इज ए सौंग एण्ड बिलांगिंग टू दी हेरिटेज।' (यह अनुभूति का अंश है और जनता की सम्पत्ति है।)"

१ २ ३. 'जनपद' त्रैमासिक, अंक १, ग्राम साहित्य, पृष्ठ ११

४ नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, द्वारा प्रकाशित, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ४१

५ गोता-भाष्य दृष्टा, पृष्ठ ५०

'राजस्थान के लोकगीत' के सम्पादकों ने 'आदिम मनुष्यों के इन्हीं गीतों का नाम लोकगीत' बताते हुए लिखा है कि लोकगीत सच्चे काव्य हैं।[1] रामचन्द्र शुक्ल की काव्य-विषयक व्याख्या के अनुसार उनके द्वारा 'शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा होती है।' तथा 'सृष्टि के नाना रूपों के साथ मनुष्य की भीतरी रागात्मिका प्रकृति का सामञ्जस्य ही कविता का लक्ष्य है।' इस पारिभाषिक अनुक्रम से लोकगीत स्वभावतः 'काव्य' की संज्ञा पाने के अधिकारी हो जाते हैं।

कृष्णदेव उपाध्याय ने 'ग्रामगीत' और 'लोकगीत' दोनों को दो भिन्न कोटि में माना है। आपके अनुसार 'फोकसॉंग' ग्रामगीत हैं और 'बैलड' 'लोकगाथा'। "ग्रामगीत से मेरा तात्पर्य उन गीतों से है जो गेय हैं—लोकगाथा वे हैं जो प्रबन्धात्मक हैं और इनमें कथा की प्रधानता है, गान नहीं।"[2] [illegible] देशपाण्डे के अनुसार मराठी में 'लोकगीत' 'जानपदगीत' एवं 'ग्रामगीत' तीनों ही शब्द पर्यायी हैं तथापि 'लोकगीत' शब्द ही ज्यादा प्रयोग में आता है।[3] इसमें सन्देह नहीं कि लोकगीत शब्द चिर नूतन है—उसकी व्यापकता में कोई अन्तर नहीं। अंग्रेजी के एक कोश में 'फोकसांग' का अर्थ है—कोई भी गीत या गीत-नीति जो लोक में प्रचलित होकर परम्परा द्वारा दूसरों को सौंपा जाय, या कोई गीत जो इसके अनुरूप लिखा जाय।[4] राहुल सांकृत्यायन ने अपनी हाल ही में प्रकाशित एक पुस्तक में गीत के स्थान पर 'गीतें' शब्द का प्रयोग किया है।[5] मराठी

1 प्रथमावृत्ति, रा० के लो० पृष्ठ ६
2 जनपद : त्रैमासिक, भोजपुरी लो० गी० पृष्ठ १८
3 'मराठी भाषेत लोकगीत, जानपद गीत व ग्रामगीत हे सर्व शब्द एकमेकांचे पर्यायी वापरतात तरी इतकी लोकगीत हा शब्द जास्त उपयोगात येत असे—।'
(लेखक को लिखे गए एक पत्र से उद्धृत)
4 चेम्बर्स ट्वेन्टीएथ सेन्चुरी डिक्शनरी पृष्ठ ३१२
5 'आदि हिन्दी की कहानियाँ और गीतें (फरवरी, १९५१)

में यही शब्द बहुवचन में प्रयुक्त होता है और अनेक पुस्तकों के शीर्षक में भी एकवचन की भाँति प्रयुक्त किया गया है, जैसे—'छत्तीसगढ़ी लोकगीतें' 'जनपद गीतें', 'पुरानी मराठी गीतें' आदि। हिन्दी के लिए यह प्रयोग अवश्य नया है।

उक्त प्रकरण से यह आवश्यक प्रतीत होता है कि इन दिनों प्रचलित लोकगीत, ग्रामगीत, जनगीत, आदि विभिन्न शब्दों के प्रयोग निश्चित कर लिये जायँ। गीत शब्द की व्याख्या तो हिन्दी में प्रचुर हो चुकी है। अब केवल इसके पर्यायों पर विचार करना है।

'लोक' वस्तुतः ग्रामीण एवं नागरिक जन के सामान्य अर्थ में सदैव व्यवहृत होता आया है, अतएव जब 'लोकगीत' का प्रयोग किया जाय तो सामान्य जनता द्वारा उद्भूत मौखिक गीत के ही अर्थ में उसे ग्रहण किया जाय। इस प्रकार लोक-नाट्य, लोक-कथा, लोक-साहित्य, आदि शब्दों के अर्थ भी व्यवस्थित हो जाते हैं। लोक-भावनाओं का प्रतिबिम्ब केवल ग्राम-भाग की जनता से नहीं हो सकता। ग्राम की सीमायें संकुचित हैं और ग्राम एवं नगर के भेद को मिटाने वाले 'लोक' शब्द की परिधि दोनों को अपने में समेट लेती है। 'ग्रामगीत' (जैसा की पण्डित रामनरेश त्रिपाठी ने बताया) ग्राम की सम्पत्ति हैं और लोकगीत के ही अन्तर्गत आते हैं। 'लोकगीत' का सृजन कहीं भी हो सकता है, किन्तु 'ग्रामगीत' तो केवल ग्राम में ही जन्म लेते हैं। 'ग्रामगीत' के सम्बन्ध में निम्नलिखित परिभाषायें विचारणीय हैं—

१ 'ग्रामगीत आर्येतर सभ्यता के वेद (श्रुति) हैं।'[1]

—हजारीप्रसाद द्विवेदी

२ 'ग्रामगीत प्रकृति के उद्गार हैं।'[2]

३ 'ग्रामगीत पुराने होते हैं और रचनाकाल की दृष्टि से आधुनिक भी हो सकते हैं।'[3]

—कृष्णानन्दगुप्त

---

१ 'छत्तीसगढ़ी लोकगीतों का परिचय' की भूमिका, पृष्ठ २

२ कविता-कौमुदी ५ वाँ भाग ग्रामगीतों का परिचय, पृष्ठ १

३ 'ब्रज लोक-साहित्य का अध्ययन', पृष्ठ ७९

४ 'ग्रामगीत लोक्य ही नहीं नागर भी हो सकता है ।'[1]

—डॉ० सत्येन्द्र,

परिभाषाओं की यह दीर्घसूत्र वस्तु के चित्र को सँवारने में कम सहायक होती है । परिवर्तन का प्रभाव निश्चित रूप से नगर और ग्राम की सभ्यता एवं उसके सम्बन्ध पर पड़ता है । अतएव लोक-साहित्य और ग्राम साहित्य की स्थिति काल-क्रमानुसार बदलती रहती है । मानव-सभ्यता के कृषि-अवस्था में आते ही ग्रामों और नगरों की सभ्यता में भेद उपस्थित हुए, यद्यपि दोनों का सम्बन्ध बराबर बना रहा और दोनों एक-दूसरे को प्रभावित भी करती रहीं । नगर में ग्राम की अपेक्षा किंचित् परिष्कृत रुचि पनपने लगी । परिष्कार की यह स्थिति जब काफी ऊँची उठ गई तो ग्राम और नगर-संस्कृति का भेद स्पष्ट दीखने लगा । इससे असंस्कृत (सर्वसाधारण) और संस्कृत (परिष्कृत मन) ये दो वर्ग प्रगट हुए । लोक-साहित्य इसी समय का मौखिक परम्परागत साहित्य है जो सामाजिक स्थिति के अनुसार परिवर्तित होता रहता है । ऋग्वेद की ऋचाएँ किसी समय मौखिक थीं । लिपिबद्ध होकर वे इस मौखिक परम्परा से छूट गईं । संस्कृत, पाली, अपभ्रंश आदि का अधिकांश साहित्य परिष्कृत, रुचि-सम्पन्न वर्ग के हाथ पड़कर लिपिबद्ध हुआ और इस प्रकार लोक-परम्परा के प्रवाह से एक ओर जाकर लिखित होकर रुक गया । तत्कालीन स्थिति में वही लोक-साहित्य था, आज नहीं । लोकगीत लोक-साहित्य का ही गीत-प्रधान अंग है जिसका उद्भव नगर और ग्राम के संयुक्त साधारण-जन के मध्य होता है । यही वर्ग 'लोक' है । किन्हीं अंशों में लोकोन्मुखी प्रवृत्ति का संस्कृत मन भी इस 'लोक' का अंग बन जाता है । अतः ग्रामगीत इस दृष्टि से लोकगीत के पूरक ही हैं । एक 'ग्रामगीत' 'लोकगीत' हो सकता है, किन्तु 'लोकगीत' 'ग्रामगीत' नहीं हो सकता । आधुनिक हिन्दी-साहित्य में कहीं-कहीं 'जनगीत' शब्द का प्रयोग लोकगीत के अर्थ में किया जाता है । किन्तु 'जनगीत' विशिष्ट वर्ग के गीत का द्योतक है । लोकगीत जिस प्रकार

[1] 'ब्रज लोक-साहित्य का अध्ययन', पृष्ठ ७१

लोक-साहित्य का अंग है, उसी प्रकार जनगीत भी जन-साहित्य के अन्तर्गत है। जन-साहित्य की व्याख्या करते हुए श्री नामवरसिंह ने लिखा है—"जन-साहित्य औद्योगिक क्रान्ति से उत्पन्न समाज-व्यवस्था की भूमिका में प्रवेश करने वाले सामान्य जन का साहित्य है। इसलिए जन-साहित्य लोक-साहित्य से इसी अर्थ में भिन्न है कि लोक-साहित्य जहाँ जनता के लिए जनता ही द्वारा रचित साहित्य है, वहाँ जन-साहित्य जनता के लिए व्यक्ति द्वारा रचित साहित्य है।"[1] यही व्याख्या जनगीत और लोकगीत पर लागू होती है।

श्री नामवरसिंह ने अपनी व्याख्या में यह स्पष्ट बताया है कि लोक-साहित्य का रचयिता लोक-समाज के भावों की अभिव्यक्ति का माध्यम-मात्र है। उसका व्यक्तित्व लोक-भावों में तिरोहित होकर लोक-स्वरूपी हो जाता है। जन-साहित्य के रचयिता का व्यक्तित्व अपना वैशिष्ट्य नहीं खोता। उसका साहित्य लोक-साहित्य की तरह मौखिक नहीं होता बल्कि प्रेस द्वारा मुद्रित और प्रकाशित होता है। संक्षेप में, 'जन-साहित्य' शिष्ट व्यक्ति द्वारा रचा हुआ वह साहित्य है जो सह-दक्षिता के फलस्वरूप सामान्य जन के लिए अभिव्यक्त होता है।"[2] दुहराने की आवश्यकता नहीं कि यही भेद 'लोकगीत' और 'जनगीत' पर घटित होता है।

लोकगीत का सृजन संगीत के माध्यम से लोकरंजक होकर परम्परा में पर्यवसित होने के क्रम में व्यक्ति और समष्टि के भेद को खत्म कर देता है। किसी व्यक्ति-विशेष द्वारा निर्मित कोई गीत जन-मानस को आन्दोलित कर उसके स्पन्दन के तारों से मेल खाने लगे और कालान्तर में उसी भाँति अथवा थोड़े परिवर्तन के साथ जीवित रहे तथा निरन्तर प्रयोग में आता रहे तो वह गीत 'लोकगीत' ही कहलाएगा। उसे 'लोकगीत' की संज्ञा इतिहास और प्रयोग के सहारे प्राप्त होगी। मूल में कोई गीत लोकगीत नहीं कहा जायगा। परिस्थिति-वश समाज में आनुष्ठानिक अथवा औपचारिक

१ जनपद त्रैमासिक (अंक १) पृष्ठ ६२-६३

२ जनपद (अंक दो), पृष्ठ ६३

मूल्य पाकर विशेष संस्कृति की पृष्ठभूमि में ही वह लोकगीत बनता है। प्रत्येक गायक अथवा गीत-निर्माता के साथ कर्म-रती समाज होता है। समाज की प्रतिक्रिया गायक अथवा गीत-निर्माता पर होती है। यह समाज ग्राम अथवा नगर कहीं का भी हो सकता है। यदि व्यक्ति-प्रसूत कोई गीत समाज के भावों को आन्दोलित कर टिक गया तो कालान्तर में वही लोक-गीत होगा, इसमें सन्देह नहीं।

अस्तु, 'लोकगीत' और 'जनगीत' शब्दों का यह पारस्परिक भेद लोक-साहित्य के प्रति बढ़ती हुई रुचि को देखते हुए ध्यान देने योग्य है।

७

लोक-मानस की त्रिधाभिव्यक्ति

गीत मनोभावों की अभिव्यक्ति का वह माध्यम है, जिसमें संगीत का अस्तित्व पूर्ण के रूप में निहित होता है। 'लोक' से सम्बन्धित होते ही उसकी व्यक्तिपरक महत्ता सामूहिक तत्त्वों के अनुरूप ढल जाती है। व्यक्तित्व का जो आभास कला-गीतों में मिलना सहज और अनिवार्य है, वैसा लोक-गीतों में नहीं, क्योंकि लोकगीत व्यक्ति-प्रेरित नहीं हैं उनमें मानव के समूहगत भावों की अभिव्यक्ति होती है।

लोकगीत का निर्माण

इसी धारणा के आधार पर लोकगीत-विशेषज्ञों का मत है कि उनका निर्माण कोई व्यक्ति नहीं, जन-समूह करता है। यह प्रश्न किंचित् विवाद का विषय भी रहा है। प्रोफेसर किटरिज और फ्रैंसिस ग्रिम की राय तो यही है कि लोकगीतों का निर्माणकर्ता जन-समूह होता है। नृतत्त्व-शास्त्र एवं समाज विज्ञान के विद्वानों ने इस मत को अनेक प्रमाणों से पुष्ट किया है। आदिम मानव-समाज के अध्येता यह मानते हैं कि मानव ने अपने मूल भावों की अभिव्यक्ति सदैव ही सामूहिक गीतों में की है। वह अवस्था ऐसी थी जब कि जन की समस्त बिखरी भावनाएँ एक होकर गीत-रूपी अभि-व्यंजना के सागर की ओर दौड़ी होंगी, यह असम्भव नहीं। काडवेल का

मत है कि आदिम अवस्था में मानव की सामाजिक चेतना अपने साधारण रूप में थी, जो क्रमशः प्रकृति के साथ संघर्ष करते हुए गहरी होती गई। मानव और प्रकृति का यह संघर्ष सामूहिक चेतना को बढ़ाता गया। प्रकृति के विकराल रूप से मानव भयभीत हुआ और किसी पशु को मारने पर अपनी विजय में प्रफुल्लित भी। प्रकृति से उसका सान्निध्य उसके विकास के प्रारम्भ से बना हुआ है। पशु-पक्षियों की किलकारियों और शब्दों का सस्वर उच्चारण मन की विभिन्न अवस्थाओं के अनुरूप घटित होता रहा। अतः अभिव्यक्ति के क्षेत्र में मानव के वे तत्कालीन मनोभाव, अपने अनगढ़ रूप में, शारीरिक मुद्राओं के साथ गीत, संगीत और नृत्य के जन्म की कहानी बने।

लोकगीतों के निर्माण का सम्बन्ध शब्दों की उत्पत्ति के साथ है। किसी व्यक्ति के गीतबद्ध मनोभाव यदि जनमानस के अनुरूप हुए, तो वह सहज ही उन्हें अपनाकर उनमें अपने स्वभाव और सुविधानुसार परिवर्तन कर लेता है। गीत का यही संस्कार लोकगीत है।

लोकगीत एवं लोक-संगीत

लोकगीतों के साथ लोक-संगीत का उल्लेख आवश्यक है। एक पाश्चात्य विद्वान् के अनुसार कालान्तर में सहज संगीत (Spontaneous music) ही लोकगीत कहलाया। लोकगीत के लिए अंग्रेजी शब्द 'फोक-सांग' (जर्मन शब्द volkslied से उत्पत्ति) है, जिसके लिए कहा गया है कि वह संगीत के क्षेत्र में सचाई और दृढ़ता के नाते अपना विशेष महत्त्व रखता है।[1] इसमें दो मत नहीं कि लोक-संगीत लोकगीत के अभाव में केवल

1 Folksong, a rather awkward translation of German word Volkslied but nevertheless a word which stands for a very definite fact in the realm of music.

—एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका (९) १४वाँ संस्करण (१९२९–३९) पृष्ठ ४४०

अर्थहीन वाग्विलाप-मात्र है। लोक-मानस अपने मनोभावों की धुनों में शब्दों का प्रयोग इसलिए करता है कि उनकी अभिव्यक्ति निरर्थक न हो। या यों कहिए कि सार्थक शब्दों के माध्यम से धुनों के सहारे लोक-भावों को नैसर्गिक विकास मिलता है। वैसे तो किन्हीं अंशों में निरर्थक शब्द-व्यंजना भी गीतों में मिलती है, पर धुनों को सँभाले रखने में उनकी निरर्थकता सार्थक हो जाती है। विशेष रूप से यह निरर्थक शब्द-व्यंजना आदिम अवस्था की सूचक है, जो अपनी परम्परागतता के कारण आज तक स्वभावतः लोकगीतों में बनी हुई है। आज भी आदिवासियों के गीतों में अर्थहीन शब्दों का बाहुल्य है। हो—हो—होऽऽ—हो—हो—ऽऽ—हिम्—हिम्—हिम्—हि—र—र—र—अथवा आ—आ—आ—आ—आऽ—, रे—रेऽऽ रे—, ओ ऽऽऽ बीम्बीम्बी, आदि ऐसी शब्द ध्वनियाँ हैं, जिनका टेक गीतों के लिए अब अनिवार्य बन गया है।

लिखित रूप के अभाव में शब्दों का रूप न सदा ही ध्वनि और अर्थ से रहा है। लय-तान ध्वनियों (धुनों) के द्वारा लोक-गीतों में अभिव्यक्ति पाता है। उसमें जन-मानस के मनोवेगों और रसों का समावेश स्वाभाविक है, क्योंकि लोक-भाषाओं के शब्द इस दृष्टि से अपने आप में स्फुट हैं। उनमें एक वैशिष्ट्य होता है। प्रयोगकर्ता एवं उनको सुनने-समझने वाला ही उनकी विलक्षण और परिवेशयुक्त अभिव्यक्ति ग्रहण करता है। अतएव, चिरपरिचित मुहावरे में कहें, तो लोकगीत एवं लोक-संगीत एक ही रथ के दो पहिये हैं—एक की अनुपस्थिति में दूसरा अनुपयोगी है।

सामुदायिक गान की प्रवृत्ति

व्यक्ति प्रारम्भ से ही समूह में रहने का प्राणी रहा है। यही उसका स्वभाव है, प्रकृति है। अतः इस प्रवृत्ति विशेष के कारण सामूहिक अभिव्यक्तियों को प्रश्रय मिला। संगीत मानव की विकासगामी अवस्था में उसके हर्ष, विषाद, उल्लास आदि का वाहक रहा है। इस संगीत में निरर्थक शब्दों के स्थान से यह धीरे धीरे छूटता गया। सामूहिक गान सार्थक होने लगे।

छन्दों का ज्ञान अथवा आविष्कार न होने पर भी पन्चम स्वर में सुविधा सम्पन्न हुए। स्वरान्तर और स्वरों का ज्ञान शब्दों के सार्थक प्रयोगों के साथ मानव समझने लगा। यह मानव की वह अवस्था थी, जब अपने पशुओं के लिए चरागाहों की खोज में वह एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर बढ़ता था। कृषि का ज्ञान होने पर अपनी फसल की वृद्धि के विचार से उसकी घुमक्कड़ वृत्ति को पहली बार चोट पहुँची। उसके कदम रुके। गाँव बसे और तभी उसके गीत और संगीत का रूप प्रकट हुआ जिसे हम ग्राम-गीत अथवा ग्राम-संगीत कहते हैं। अतः अपनी आदिम अवस्था से निकलकर जब मनुष्य पूर्णरूपेण कृषि-अवस्था का मनुष्य कहलाने योग्य हुआ अथवा जब उसमें एक विशेष प्रकार की संस्कृति और बुद्धि का उदय हुआ, तभी गीत और संगीत के स्वरूप कुछ निश्चित हो पाये। प्राचीन भारतीय वाङ्मय में *गाथाओं का उल्लेख हमें मिलता है, जो वस्तुतः व्यवस्थित सामाजिक अवस्था* के सूचक हैं। ये गाथायें गीत अथवा पद्य ही हैं, जो ऋग्वेद में एक भिन्न साहित्य की द्योतक भी हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार ये गाथायें मानव-रचित हैं, जिनका उद्देश्य विशेषतः किसी महान् व्यक्ति के सत्कर्मों का बखान करना रहा है। शतपथ ब्राह्मण में यज्ञगान के रूप में, महाभारत में तथा अन्य संस्कृत प्राकृत ग्रन्थों में गाथायें गाने की परम्परागत प्रथा के अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं। अपभ्रंश, पाली आदि में भी गीतों की यह परम्परा ...न और मेघ पद्धतिरहित विद्यमान रही है। अत, जो वैदिक युग में आर्यों ...र परम धर्म था, संगीत-शून्य कभी न रहा। यह वही उद्गीथ था जो ...सने आदिम रूप से क्रमशः विकसित होता हुआ साम्प्रदायिक गान के रूप ...प्रतिफलित हुआ। यद्यपि ग्रन्थों में उसे धार्मिक ही माना गया है, तथापि ...ह लौकिक संगीत के अनुरूप रहा होगा, इसमें सन्देह नहीं। प्राचीन ग्रन्थों ...सामूहिक गान, नृत्य, उत्सव आदि का उल्लेख यदि लोकगीत अथवा ...लोक-संगीत की ओर संकेत नहीं करते, तो उन्हें काल्पनिक भी नहीं कहा ...ा सकता। अतः लोकगीत और संगीत उतने ही सत्य हैं, जितने चाँद ...और सूरज।

लोकगीतों के सामान्य लक्षण

संसार के भिन्न-भिन्न देशों में बसने वाले मानव अपने पर्व-उत्सव के अवसर पर गाते और नाचते हैं। उनकी भाषायें अपनी होती हैं, जिन्हें पूर्वजों से सीखकर वे बराबर प्रयुक्त करते रहते हैं और उनमें एक प्रकार की प्राम्बी सुता होने के कारण वे अपनी स्वाभाविक सचाई और लोकस्वरूपता अभिव्यक्ति की दृष्टि से हृदयस्पर्शी होती हैं। इस प्रकार भाषायें गीतों की कसौटी बन जाती हैं।

गीतों में पाई जाने वाली एक सामान्य स्वच्छन्दता उनकी दूसरी विशेषता है और अधिकांश रूप से इस स्वच्छन्दता में निहित संगीत भी बहुत कुछ मिला-जुला होकर परम्परागत नहीं होता।

लोकगीत अपने आप में सब प्रधान होते हैं। अध्येताओं का कथन है कि प्रायः दुनिया के सभी लोकगीतों की धुनें भारतीय धुनों से मिलती हैं तथा उनके परिवर्तित रूप भी मिलते हैं। शास्त्रीय संगीत के आचार्यों के मत में गीत 'लक्ष्यलक्षणसमन्वित' वस्तु है, जिसमें एक व्यक्ति और समूह दोनों द्वारा ही गाये जाने वाले गीत सम्मिलित हैं। पाश्चात्य संगीतज्ञों का अनुमान है कि लोकगीत केवल अपनी समूहिक वृत्ति के कारण ही १५वीं शताब्दी के पश्चात् टिके रह सके। किन्तु भारतीय गीतों में पाए जाने वाली स्थिति से यह समीचीन प्रतीत नहीं होता। अलग अलग हिस्से के लोकगीतों में भिन्न-भिन्न लक्षण पाए जाते हैं, जिनके द्वारा हम उनके स्थायित्व अथवा अस्थायित्व की जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। किसी पाश्चात्य लेखक ने दुनिया के लोकगीतों का लक्षण बताते हुए लिखा है—'फ्रांस के गीत या तो सुन्दर (स्वादु) होते हैं या मारणीय जर्मनी गीत कोमल एवं हृदय-स्पर्शी, सामान्य यूरोपीय गीत गेय, गुनगुनाने योग्य, द्रुत एवं प्रसन्नद, रूसी गीत उदास और अवसाद लेती मन्द और रुग्चित तथा हिब्रू गीत आध्यात्मिक और प्रभावशाली होते हैं। अमरीकी-नीग्रो गीत रिमपक, सुन्दर एवं गहन धार्मिक होते हैं।"

लोकगीत और नृत्य

संगीत के साथ नृत्य को हम भुला नहीं सकते। जहाँ तक लोक-नृत्यों का प्रश्न है वे गीतों से जुड़े हुए हैं। दोनों ही आदिम मानव की प्रथम अभिव्यक्तियाँ रही हैं। गीत में संगीत भाव-प्रधान शाब्दिक अभिव्यक्ति का रूप धारण करता है और नृत्य में भावनाएँ अभिव्यक्ति के हेतु आंगिक मुद्राओं के रूप में प्रकट होती हैं। एक मूलतः लय-प्रधान है और दूसरा ताल-प्रधान। नृत्य ताल के बिना सम्भव नहीं, वैसे ही गीतों का भी लय के अभाव में सृजन होना असम्भव है। गीत में एक धुन होती है किन्तु धुन के माध्यम से किसी एक कड़ी को एक ही ढंग से अधिक समय तक गाया जाना मात्र पसन्द नहीं किया जाता। यह आवृत्ति-पद्धति कहलाती है जो प्राचीन गीतों में विशेष रूप से पाई जाती है। ध्रुवक (Refrain) भी आवृत्ति ही है, किन्तु वह किसी विशेष पंक्ति की होती है। आवृत्ति का प्रयोग 'ढोलामारू' जैसी गीत-कथा अथवा 'हीर' जैसे गुर्जर लोक-काव्य में विशेष परिलक्षित होता है। जो गीत नृत्य से सम्बन्धित होकर चलते हैं, उनमें आवृत्ति आवश्यक सिद्ध होती है। वैसे तो कई गीत ऐसे होते हैं, जिन्हें भिन्न-भिन्न धुनों में गाया जा सकता है, पर ताल से सम्बन्धित होते ही उनकी धुन भी निश्चित हो जाती है। वस्तुतः लोकगीत और लोक-नृत्य के अलग अलग रूप होने पर भी उनका आन्तरिक सम्बन्ध होता है।

गीत और नृत्य ये दोनों संगीतात्मक अभिव्यक्तियाँ आज भी भारतीय एवं पश्चिमी लोक-संगीत में समान रूप से निहित हैं। कव्वाली नृत्य, रिंबा, लमने, ढोलरास, जीग, मारवाड़ी घूमर या मेवाड़ी रसधारी, मिथिला के झरनी अथवा मालवा के आड़े या खाड़े नृत्य भीलों के भोली, गुरपालो आदि गीतों से सम्बन्धित हैं। परिणाम का तो आधुनिक संगीत इससे बचा नहीं। 'बैच स्यूट' (Bach Suite) आदि नृत्य का और 'बैच फ्यूग' (Bach Fugue) गीतों का ही विकसित रूप है। बेथोवन के गीतों की मन्द्र ध्वनि लोकगीतों से संबंधित है और 'शेरो' (Scherro) के पीछे नृत्य का प्रभाव स्पष्ट है। इस प्रकार स्ट्राविन्स्की के 'राइट ऑफ स्प्रिंग' का प्रारम्भ

लोकगीतों के सामान्य लक्षण

संसार के भिन्न-भिन्न देशों में बसने वाले मानव अपने पर्व-उत्सव के अवसर पर गाते और नाचते हैं। उनकी भाषायें अपनी होती हैं, जिन्हें पूर्वजों से सीखकर वे बराबर प्रयुक्त करते रहते हैं और उनमें एक प्रकार की आत्मीयता होने के कारण वे अपनी स्वाभाविक सचाई और लोकस्वरूपा अभिव्यक्ति की दृष्टि से हृदयस्पर्शी होती हैं। इस प्रकार भाषायें गीतों की कसौटी बन जाती हैं।

गीतों में पाई जाने वाली एक सामान्य स्वच्छन्दता उनकी दूसरी विशेषता है और अधिकांश रूप से इस स्वच्छन्दता में निहित संगीत भी घुल-मिला हुआ होकर परम्परागत नहीं होता।

लोकगीत अपने आप में लय प्रधान होते हैं। अन्वेषकों का कथन है कि प्रायः दुनिया के सभी लोकगीतों की धुनें भारतीय धुनों से मिलती हैं तथा उनके परिवर्तित रूप भी मिलते हैं। शास्त्रीय संगीत के आचार्यों के मत में गीत 'स्वरपदमात्रागणकलात्मक वस्तु है जिसमें एक व्यक्ति और समूह दोनों द्वारा ही गाये जाने वाले गीत सम्मिलित हैं। पाश्चात्य संगीतज्ञों का अनुमान है कि लोकगीत केवल अपनी सामूहिक वृत्ति के कारण ही १५वीं शताब्दी के पश्चात् टिके रह सके। किन्तु भारतीय गीतों में पाई जाने वाली स्थिति से यह समीचीन प्रतीत नहीं होता। अलग अलग हिस्से के लोकगीतों में भिन्न-भिन्न लक्षण पाए जाते हैं, जिनके द्वारा हम उनके स्थायित्व अथवा अस्थायित्व की जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। किसी पाश्चात्य लेखक ने दुनिया के लोकगीतों का लक्षण बताते हुए लिखा है—"फ्रांस के गीत या तो सुन्दर (स्वादु) होते हैं या नाटकीय, जर्मनी गीत कोमल एवं हृदय-स्पर्शी, सामान्य यूरोपीय गीत गेय, गुनगुनाने योग्य, शुद्ध एवं प्रसन्नप्रद, रूसी गीत उदास और भावुक, स्पेनी मन्द और लम्बित तथा हिन्दू गीत आध्यात्मिक और प्रभावशाली होते हैं। अमरीकी-नीग्रो गीत विलक्षण, सुन्दर एवं गहरे धार्मिक होते हैं।"

लोकगीत और नृत्य

संगीत के साथ नृत्य को हम भुला नहीं सकते। जहाँ तक लोक-नृत्यों का प्रश्न है वे गीतों से जुड़े हुए हैं। दोनों ही आदिम मानव की प्रधान अभिव्यक्तियाँ रही हैं। गीत में संगीत भाव प्रधान शाब्दिक अभिव्यक्ति का रूप धारण करता है और नृत्य में भावनाएँ अभिव्यक्ति के हेतु आंगिक मुद्राओं के रूप में प्रकट होती हैं। एक मूलतः लय-प्रधान है और दूसरा ताल-प्रधान। नृत्य ताल के बिना सम्भव नहीं वैसे ही गीतों का भी लय के अभाव में सृजन होना असम्भव है। गीत में एक धुन होती है, किन्तु धुन के माध्यम से किसी एक कड़ी को एक ही ढंग से अधिक समय तक गाया जाना प्रायः पसन्द नहीं किया जाता। यह आवृत्ति-पद्धति कहलाती है, जो प्राचीन गीतों में विशेष रूप से पाई जाती है। ध्रुवक (Refrain) भी आवृत्ति ही है, किन्तु वह किसी विशेष पंक्ति की होती है। आवृत्ति का प्रयोग 'ढोलामारू' जैसी गीत-कथा अथवा हीर' जैसे गुर्जर लोक-काव्य में विशेष परिलक्षित होता है। जो गीत नृत्य से सम्बन्धित होकर चलते हैं, उनमें आवृत्ति अधिक सहायक सिद्ध होती है। वैसे तो कई गीत ऐसे होते हैं, जिन्हें भिन्न भिन्न धुनों में गाया जा सकता है, पर ताल से सम्बन्धित होते ही उनकी लय भी निश्चित हो जाती है। वस्तुतः लोकगीत और लोक-नृत्य में अलग अलग रूप होने पर भी उनका आन्तरिक सम्बन्ध होता है।

गीत और नृत्य में दोनों संगीतात्मक अभिव्यक्तियाँ आज भी भारतीय एवं पश्चिमी लोक-संगीत में समान रूप से निहित हैं। सन्थाली कर्मा, रिंचा, लाहोरे, जोगरास, ढोंग, मारवाड़ी झूमर या मेवाड़ी रासधारी, मिथिला के भरनी अथवा मालवा के खड़े या आड़े नृत्य, भीलों के ढोली, कुरपाली आदि गीतों से सम्बन्धित हैं। पश्चिम का तो आधुनिक संगीत इससे बचा नहीं। 'बैच सूट' (Bach Suite) आदि नृत्य का और 'बैच फ्यूग' (Bach Fugue) गीतों का ही विकसित रूप है। बेथोवन के गीतों की मन्द्र ध्वनि लोकगीतों से संबंधित है और 'शेरो (Scherro) के पीछे नृत्य का प्रभाव स्पष्ट है। इस प्रकार स्ट्राविन्स्की के 'राइट ऑफ स्प्रिंग' का प्रारम्भ

भी एक गीत-तत्त्व पर आधारित है। वास्तव में जिसे पश्चिम में 'सिम्फोनिक' संगीत कहा जाता है, उसका अधिकांश मूल में नृत्य और संगीत के संयोग का ही प्रतिफल है।

अचिन्त्य अभिव्यक्ति

प्रोफेसर चाइल्ड्स इसे स्पष्टतया स्वीकार नहीं करते कि लोकगीत की उत्पत्ति संगीत और नृत्य से होती है, किन्तु जब हम कतिपय अंग्रेजी शब्दों की उत्पत्ति-विषयक चर्चा करते हैं, तो इसमें हमें सन्देह नहीं रहता। उदाहरणार्थ अंग्रेजी के 'बैलेड' (Ballad) शब्द की उत्पत्ति फ्रेंच शब्द 'बैलेर' (Ballare) से हुई है, जिसका तात्पर्य है नृत्य। ऐसा प्रतीत होता है कि सामूहिक नृत्यों में ही 'बैलेड' लोकगीत की उत्पत्ति निहित है और संगीत इससे निश्चय ही अलग नहीं। पर सामूहिकता के ठीक विपरीत 'इम्प्रोविज़ेशन' के सिद्धान्त के प्रवक्ताओं का मत है कि लोकगीत अचिन्त्य अभिव्यक्ति है। किसी अवसर विशेष पर उल्लास और हर्ष में डूबा हुआ जन-समुदाय किसी एक की प्रेरणा से अचिन्त्य रूप से गीत-रचना करने लगता है।

त्रिधाभिव्यक्ति

जो हो, गीत, संगीत और नृत्य तीनों ही लोक-मानस की पृथक् अभिव्यक्तियाँ हैं तीनों ही एक-दूसरे से पृथक् नहीं की जा सकतीं। जहाँ हर्षोल्लास का सामूहिक रूप प्रकट होता है, वहाँ तीनों ही संयुक्त होकर व्यक्त होती हैं। संक्षेप में इन्हें हम लोक-मानस की 'त्रिधाभिव्यक्ति' कहें, तो अनुपयुक्त न होगा।

८

लोकगीतों में रंग-वैचित्र्य

भारतीय काव्य एवं साहित्य में रंगों का उल्लेख प्रायः सौन्दर्य-सृष्टि के निमित्त एवं विविध वातावरण के संश्लिष्ट चित्रण में आलंकारिक योजना के उद्देश्य से किया गया है। जिन रंगों का उल्लेख हमारे पूर्ववर्ती परिष्कृत साहित्य में उपलब्ध है वे आदिम रुचियों के आकर्षण से ऊपर उठे हुए हैं। उनमें क्रमशः नई-नई रंगतें (शेड्स) और मूल रंगों के अतिरिक्त सम्मिश्रित प्रभाव उत्पन्न होता गया है। यही कारण है कि लोक-साहित्य में प्रयुक्त रंगों में जहाँ मौलिकता अनगढ़पन और स्पष्टीकरण अवस्थित है वहाँ परिष्कृत साहित्य में अभिजात्यवर्गीय रुचि को परितोष प्रदान करने वाले रंग विषयक विधान, वैचित्र्य, कला और प्रभाव मिलते हैं। किन्तु रंग, ध्वनि, गन्ध और स्पर्शयुक्त चित्रों की भी भारतीय साहित्य में कमी नहीं है। इन चित्रों में प्रकृति का प्रतिबिम्ब उन्हीं उपकरणों से उद्भासित हुआ है जो लोक-साहित्य में अपनी स्वाभाविक अनलंकृत और सादे चित्र योजना द्वारा प्रकट होते हैं।

प्रकृति से अपनाये गए रंग सदैव ही सभ्य असभ्य सभी प्रकार के मानव मात्र को आकर्षित करते रहे हैं। लाल, हरित, नील, पीत, श्वेत, श्याम आदि इसी प्रकार के रंग हैं। गन्ध, ध्वनि और स्पर्श के तत्त्वों से पूरित वातावरण प्रस्तुत करने वाले प्राकृतिक उपकरण सहज ही रंगों का भास

उत्पन्न करते हैं। किंचित् रूपों में रंगों का उल्लेख अपरोक्ष रीति से भी होता है।

रंग प्रकृति के अन्तर्गत हैं। दार्शनिक दृष्टि से सांख्यवादियों और वेदान्तियों के लिए यह गौण विषय है, किन्तु प्रकृति की अनुकम्पा से उत्पन्न होने वाले जिन ठोस पदार्थों में शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध की मूल पंचतन्मात्राएँ हैं, उनमें चक्षु से रंगों का प्रधान सम्बन्ध है। यद्यपि यह दृष्टि का विषय है तथापि शब्द, स्पर्श और गन्ध से भी उसका सम्बन्ध स्वाभाविक है। अतः रंग-विशेष के अभाव में भी अन्य सम्बन्धित उपकरणों द्वारा निश्चित रंगाभास हो जाता है। जिस तरह कुछ वस्तुओं के अवलोकन-मात्र से पूर्ण प्रतिबिम्ब बन जाता है, उसी प्रकार कतिपय सांकेतिक शब्दों से (जिनके प्रति पूर्वापर सम्बन्ध होता है) रूप और रंग का प्रभाव उत्पन्न हो जाता है। प्रकृति-वर्णन में मेघों की घटा से इन्द्रधनुष के रंग, दूर्वा की हरीतिमा, सरिताओं का फेनिल जल, पक्षियों के विविध रूप आदि अव्यक्त प्रभाव उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार अनेक वस्तुओं में रंगों की सत्ता है जो भावनाओं को गुणों से अनुरक्त किये हुए है।

सौन्दर्य एवं रंग

लोकगीतों में रंगों का यद्यपि प्रत्यक्ष उल्लेख है तथापि अप्रत्यक्ष रूप-योजना की भी उनमें कमी नहीं जो विभिन्न जातियों के गीतों में उपलब्ध है। सौन्दर्य की चर्चा करते हुए कला-मर्मज्ञ इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सौन्दर्य हमारे अधम मानस में निर्मित होने वाले विभिन्न वस्तु-तत्त्वों का एकीकरण है। अतएव अप्रत्यक्ष रूप-योजना भी उक्त एकीकरण में योग प्रदान करती है। किन्तु साधारण स्थिति में सौन्दर्य केवल आनन्द की वस्तु है। यह दृष्टि के माध्यम से मन को तृप्ति और प्रेरणा देता है। चित्रकला में रेखाएँ वस्तु को रूप देती हैं और रंग उस रूप के सौन्दर्य को उभारते हैं। बालकों द्वारा बनाए जाने वाले चित्रों को देखने से ज्ञात होगा कि उनमें पेड़ों का रंग हरा, आकाश का नीला, सूरज का लाल और पहाड़ों का

करता होता है। रंगों के प्रयोग की यह नैसर्गिक वृत्ति है। लोकगीतों में यही वृत्ति कार्य करती है। उनमें भी हरे पेड़, नीले आसमान और 'रातें' (रात्रि) सूरज की कल्पना है। लोकगीतों के रंग स्थिर हैं—उनमें गत्या त्मकता का अभाव है। वस्तुतः लोकगीतों में रंगों के प्रति सापेक्षिक निर्णय मिलता है जो संस्कार रूप में जनमानस की रुचि को प्रभावित करने की क्षमता रखता है।

रंगों की अवस्था

हर्बर्ट रीड ने चित्रकला में प्रयुक्त होने वाले रंगों की तीन अवस्थाएँ बताई हैं। प्रथमावस्था को 'हेराल्डिक', द्वितीय को 'हारमोनिक' और तृतीय को 'प्यूरर' कहा है। 'हेराल्डिक' अवस्था अत्यन्त प्राचीन है जिसमें रंगों का प्रयोग संकेतार्थी रहा है। प्रागैतिहासिक एवं पूर्व प्रागैतिहासिक चित्रों में यह अवस्था विद्यमान है। बालकों के चित्र भी इसी अवस्था के अन्तर्गत आते हैं। मध्यकालीन कला में रंगों के प्रयोग विषय में किंचित् परिवर्तन हुए। प्रयोग निश्चित नियमों में बँधे रहे। रूढ़ हो जाने से विशेष वस्तुओं के विशेष रंग क्रमशः निर्धारित हो गए—भले ही चाहे वे यथार्थ न हों। रीड का कथन है कि यह 'हेराल्डिक' प्रयोगावस्था १५वीं शताब्दी तक चलती रही। स्वीकार करना होगा कि लोकगीतों में यही अवस्था हमें मिलती है। संसार के किसी भी भाग के गीत क्यों न हों, यह अवस्था उनमें निश्चित रूप से विद्यमान है। लोकगीतों की जड़ें सुदूर अतीत में जमी हैं, इसलिए उनके विश्वास, रूढ़ प्रयोग, शैली और आपाततः तारतम्य नवीन नहीं हैं। उनमें परम्परा का पोषण सर्वोपरि है। जहाँ तक रंगों का प्रश्न है, लोकगीतों में पहले से चले आते हुए रंगों में परिवर्तन कम हुए हैं। 'हारमोनिक' अवस्था के रंगों में छाया-प्रकाश (लाइट एण्ड शेड्स) का मेल हुआ और 'प्यूरर' में रंगों का मूल्य स्वर्णगत आकर्षण की दृष्टि से आँका गया जिसमें रूपगत पूर्णता एवं जीवन के महत्त्व की वृद्धि हुई। लोकगीतों में 'हारमोनिक' अवस्था कहीं-कहीं मध्यकालीन प्रयोगों के सहारे

आई है 'धूसर' अवस्था की उनमें किंचित् सम्भावना भी नहीं है। यह परिष्कृत रुचि के द्योतक साहित्य में खोजी जा सकती है।

लोक-साहित्य के अध्ययन-विकास को देखते हुए रंगों की दृष्टि से भारतीय लोकगीतों की परख करना अनिवार्य प्रतीत होता है। प्रागैतिहासिक मानव के गुफा चित्रों ने प्रागैतिहासिक कला के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के अन्वेषणों का द्वार खोल दिया है। पाश्चात्य विद्वानों ने उपलब्ध कला-चिन्हों से आदिम वृत्तियों का बड़ा सूक्ष्म अध्ययन किया है। प्रागैतिहासिक मानव की रुचि, उसके प्रिय रंग, प्रयोग विधि, विविध वर्ण आकर्षण आदि का विस्तारपूर्वक अध्ययन हमारे सम्मुख है। चित्र यद्यपि स्थिर प्रमाण हैं, किन्तु इस दृष्टि से लोकगीतों का महत्त्व भी कम नहीं। लोकगीतों में बलि के उल्लेख, टोने टोटकों के प्रयोग, मानवीय इच्छाओं की अभिव्यक्ति, जादू-विश्वास, रंग रुचि आदि में कतिपय आदिम वृत्तियों के अवशेष मिले हैं। गीतों में वैसे क्रमशः परिवर्तन होते रहते हैं, किन्तु भावों में शब्दों की अपेक्षा परिवर्तन कम होते हैं। अतः संगीत-तत्त्व भी आदिम अवशेषों का संवाहक है। लम्बी धुनें, पशुओं की ध्वनियों की नकल और निरर्थक शब्द-योजना प्राचीन प्रभाव के द्योतक हैं। लोकगीतों के रंग भी इस दृष्टि से अपरिवर्तनशील हैं। उनमें भी आदिम रुचि के द्योतक प्रभाव लक्षित होते हैं। कतिपय रंग रूढ़ होकर उसी अवस्था में प्रयुक्त होते आ रहे हैं। क्योंकि उनका परम्परा, आश्चर्य, धर्म-सम्बन्धी विश्वास और मनोवैज्ञानिक रुझान से सम्बन्ध है।

प्रकृति की खुली हुई पुस्तिका सदैव ही लोक-मानस के अध्ययन की सामग्री रही है। विभिन्न वस्तुओं के रंग, आकृतियाँ, और प्रभाव लोक-गायकों ने धीरे-धीरे अपना लिये। उन्हीं के साहचर्य से उन्होंने एक-दूसरे के पूरक रंगों और मूल रंगों के प्रति अपनी रुचि दृढ़ की। लोकगीतों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि लोक-कवि रंगों के नाम से ही अधिक मुग्ध हैं अतः उनकी सीमाएँ निश्चित हैं।

स्थायी रंग

भारतीय लोकगीतों में कुछ रंग स्थायी हैं। लाल रंग ही लीजिए। लाल के अन्य भेद गुलाबी, महावरी, मजीठी, महावरी, मेहदिया, सिन्दूरी, पक्का, हिंगलाज (हिंगुल), आदि रक्तवर्ण रंग के द्योतक हैं। ये भेद लोकगीतों में जीवन की उपयोगी वस्तुओं से ही सादृश्य की भूमि पर अपनाये गए हैं। लाल रंग अन्य सभी रंगों की अपेक्षा सभ्य किंवा असभ्य सभी जातियों को विशेष प्रिय है। सभी युगों में यह पसन्द किया जाता रहा है, क्योंकि यह भड़कीला, प्रसादायी, उत्तेजक है, और वृद्ध, बालक, युवक, वनचर, नागरिक, आदि सभी प्रकार के, सभी आयुओं के व्यक्तियों के लिए स्वभावानुकूल है। लाल वस्त्रों से पशुओं को उत्तेजित किया जाता है। लाल रंग शक्ति का द्योतक है। किन्हीं अंशों में रक्त से सादृश्य होने के कारण यह मानव की मूल वृत्तियों को अत्यन्त प्रभावित करता है। आदिम अवस्था से ही लाल रंग मन को आकर्षित करता रहा है। भोजपुरी, मालवी, राजस्थानी, मैथिली, कुरुप्रदेशी, छत्तीसगढ़ी, पंजाबी, बुन्देली, अवधी, बिहारी, महाराष्ट्री, आदि सभी भारतीय भाषाओं के गीतों में लाल और उसकी कुछ अन्य गाढ़ें एवं भड़कीलापन निहित है।

भोजपुरी गीतों में प्रसव के समय माता अभिमान से गृह-स्वामी को लाल पाट की जाजिम लाने की आज्ञा देती है।[1] दुखित पुत्रहीना रुक्मिणी को इस बात का क्लेश है कि वह जीवन में कभी लाल और पीला वस्त्र पहनकर पति के साथ वेदी पर नहीं बैठी,[2] प्रियतम की अनुपस्थिति में नायिका अपनी चुनरी लाल रंग में रँगने से मना करती है,[3] और मालवी

१ "लहरों से अगरैनि कुमरा अबहुँ, जोला बोलेले अभिमान ए।
सास पाट के जाजिम माँगले, धोरी धोरी दसाव ए॥"
—भोजपुरी ग्रामगीत, (हि० सा० स० प्र०) पृष्ठ ७१

२ "लाल पियर ना पहिरली जनक ना बइठली हो।" वही पृष्ठ ८१

३ 'हम ना रँगइबों लाली चुनरिया, पिया बिनु सपरौं पम्हार।"
—वही, पृष्ठ ११

मीरों की नायिका को युद्ध की मँहगाई से डर है कि कहीं उसका कु
कुसुम फीका न पड़ जाय।[1] प्रसन्नता की अवस्था में प्रियतमा प्र
प्रियतम के लिए लाल पगड़ी भेजती है और फिर ही 'राता' सूरज उगे
होते देखती है। राजस्थानी नायिका अपने प्रियतम का मोतिया मर्द
से भरे महलों में रँगने के लिए आतुर है।[2] वह प्रियतम के संयोग के लि
हिंगलू ढोलियाँ (पलंग) मढ़ाती है तथा देवी-देवताओं को लाल सिन्दू
वस्त्र से सुसज्जित रखने की अभिलाषा रखती है।[3] मैथिल स्त्री अपने
लाल शिशु को लहरता हुआ लाल पटोर पहनाकर दूध पिलाने की इच्
रखती है (मैथिल लोकगीत, ७२)[4]। एक गीत में प्रियतम स्वयं अप
प्रियतमा से लाल पलंग पर क्रीड़ा करने का अनुरोध करता है (मैथि
लोकगीत, ७७)[5]। कुरुप्रदेश की नायिका लाल चूंदरी इसलिए पहन
नहीं चाहती कि उसके राजाजी का बिछड़ा लाल है, (आदि हिन्दी क
कहानियाँ और गीतें, पृष्ठ १ १)।[6] छत्तीसगढ़ी नवोढ़ा में प्रियतमा पति
के अभाव में किसके लिए मेंहदी रचाए, यही दुख करती है। महाराष्ट्र
जीवन में अनेक शुभ प्रसंगों में लाल रंग का सम्बन्ध है (मराठ

---

१ की हरा रंग पीलो रंग मामी कर लो कु कु कर क्यों फीको।"
—मा को पृष्ठ ९

२ "मारू मरिया मू मयौयौयी म्हारा साजन को रंग दे मोतियो।"
—रा के लो

३ "मेड़ती भरपायी लाल सिन्दूर सूँ पूप शही गजराज
लाल रंगोड़ो लिलाड़ सिन्दूर को चैठा बजरंग आम्बा जाय।"
—राज लो

४ "बहुरय लाल पटोर पहिरि कर आयल रे ललना।

५ ललना बहु कवि जाथि रे पलंगिया कि हों ढोरि सिंदुरल रे।
पृष्ठ १२, १३

६ "लाल चूँदरी मनरा मैं ना पेरूँ लाल मोरे राजाजी का बिछड़ा।

ओम्पा, बाजत बाजेठोल)[1] । बुन्देली लोक-गायक इसुरी तो सिन्दूर से भरी माँग पर मस्त होकर गा उठते हैं—

> मोतिन माँग भरी सेन्दुर से
> बेंदा देत बहारें ।
> डाँडी डरी ढिंगी चौखर से,
> लटकत अपने हारे ।[2]

अवधी के गीतों में परदेश जाते हुए प्रियतम अपनी प्रिया को सिन्दूर दे जाता है ।[3] इस प्रकार लाल रंग का उल्लेख अनेक प्रकार की वस्तुओं के लिए भारतीय गीतों में हुआ है । गुलाबी, मालती, आदि अन्य हल्के रंगों के उल्लेख बहुत कम प्राप्त होते हैं । मालवी गीतों में अवश्य मालती का उल्लेख मिलता है । कश्मीरी गीतों में गुलाबी रंगों की चर्चा भौगोलिक स्थिति के कारण है । दक्षिणपथी गीतों में तो इन हल्के रंगों का प्रायः अभाव है । गहरा लाल तो सर्वत्र व्याप्त है ।

हरा प्रकृति का अपना रंग है, जो पीत और नील के सम्मिश्रण से तैयार होता है । पीताम्बर कृष्ण के उत्तरीय के रूप में भारतीय गीतों का प्रिय वस्त्र है । पीत रंग स्वर्ण प्रकाश की तासीर वाला है और नील ठंडक की आभा रखता है । अत हरे रंग में दोनों का समावेश है । राजस्थान में इसका प्रयोग अनेक वस्तुओं की रंगत दिखाने के लिए किया गया है । 'सुआ पंखी' वस्तुतः हरा रंग ही है जो सुआ (तोता) के पंखों की रंगत का द्योतक है । मैथिल गीतों में हरे बाँस की बाँसुरी कृष्ण के अधरों के बीच

---

1 'हुस्न ढिसवे बाजो बाजी बाजी बाजा सीताबाई बाजम्बीरां बाजीचे
डिम पाख"

2 इसुरी की फागें पृष्ठ ७

3 'मैया, रे गये हुलसन देख हरसन सेन्दूर' (हमारा ग्राम साहित्य
पृष्ठ ११६)

योग्य पाती है[१], हरे बाँस के मण्डप छवाये जाते हैं[२], हरे कुमकुम और ह
मन उनके लिए आकर्षण के विषय हैं। राजस्थान में मैथिल की अपेक्षा ह
रंग कम प्रयुक्त हुआ। फिर भी वन-देवता की पूजा के समय राजस्थानी स्त्री
हरे बाँस की छाबड़ी में चमेली का फूल रखना चाहती है।[३] [illegible]
गीतों में चावल उबले और मूँग सदैव हरे बताये गए हैं।[४] इस प्रकृ
की रंगत लिये है। अनेक हरी वस्तुएँ जीवन में उपयोगी हैं। भारतीय
गीतों में लाल के बाद हरा रंग ही अधिक आकर्षित करने की क्षमता
रखता है।

अन्य रंगों के उल्लेख वस्तु-सादृश्य की दृष्टि से हुए हैं जिन पर आगे विचार किया जा रहा है।

राजस्थानी रंग

रंगों की दृष्टि से राजस्थानी गीतों में रंगों का वैभव अनोखा और मुक्त है। राजस्थानी रंग तेज और चटकीले हैं, पर उनकी अनेकरूपता प्रान्त की परम्परा के अनुरूप वातावरण के सौंदर्य-चित्रण में सहायक सिद्ध हुए हैं। राजस्थानी जीवन में ऐसे गहरे रंग की वस्तुएँ ही परम्परा या यश-कथा के योग्य रही हैं। बहुरंगी वस्तुएँ 'सुरंग' कहने-मात्र से अनेक रंगों की मालिक होती हैं। उक्त शब्द के प्रति इसी अर्थ का विश्वास प्रचलित है। 'सुरंग लहरियाँ' से कई रंगों वाला दुपट्टा तथा 'सुरंग ऋतु' से 'ऋतु की समस्त छटाओं का चित्र बनता है। इसी प्रकार सुरंग चाद, सुरंग रसिया, सुरंग नगारा, आदि उल्लेखनीय प्रयोग हैं। 'रंगीला' शब्द भी अनेक

१ 'बनना हरे-हरे बाँस के मड़ुविया छवाए बिच सोहाग है (मैथिल लोकगीत पृष्ठ ७२)
२ 'हरियर बँसवा कटाएब मड़वा छावन रे (वही ४७)
३ 'हरिया बाँसा री छाबड़ी रे माँय चमेली रो फूल (रा० ला०, १६)
४ 'रँधोरी बैठी मेरी मोठी जुगा माय, हो मूँगन की धोई दाल' (आदि हिन्दी की कहानियाँ और गीत, ८६)

भावों को व्यक्त करता है। 'रंगीला चंग बाजूवाँ' में 'रंगीला चंग' से तात्पर्य अच्छा बजने वाला चंग है। 'रंगीला साजन' वह प्रियतम है जो शौकीन, मीठे स्वभाव का, हँसमुख और बातचीत में चतुर हो। 'कसूमी रंग की बादर भाव', पचरंगी पाग, हाथीदाँत का उजला चूड़ा, और चंदासरखी एवं चम्पकवरणी कामणी भी उल्लेखनीय रंग की ओर संकेत करते हैं। इस तरह राजस्थान का रंग-विन्यास लाल, कसूमी, कस्तूरी, नीला, उजला (श्वेत, चमकदार), पीला, सर्वोत्तम, मजीठी, साँवला, काला, चन्दनी, आदि रंगों में गुम्फित है। अन्य शेड्स भी कम से कहीं-कहीं मिल जाते हैं।

कुरुक्षेत्रीय रंग

कुरुक्षेत्र रंगों की दृष्टि से प्रभावग्रस्त है। कुछ वस्तुओं के लिए कुछ रंगों के उल्लेख परम्परा या रुचि को व्यक्त करते हैं। चंदनी (चन्दन किवाड़), मोतिया ('मोतीचूर भात'), हरा (हरे मूँगर थोड़ दाल), लीला (लीला ए घोड़ा लीला ऐ घोड़ा), रूपा (रूपे के बेलड़िया) सोना (सोने की चिड़ली), बदली (बादल की रेल), आदि परम्परा से प्रचलित रंग हैं। लाल रंग (पटकीजा) मात्र कुरुक्षेत्र के गीतों में नहीं है।

मैथिली रंग

मैथिल गीतों की नायिका ने सदैव साँवला प्रियतम पसन्द किया है, जबकि राजस्थान, मालवा, गुजरात, और मध्यवर्ती भारत के गीतों में गोरा प्रियतम प्रिय लगता है। महाराष्ट्र भी साँवले सौन्दर्य में अपना विश्वास रखता है।

> काले कुरळे सुन्य पाचाचा या
> मला मामूचा साँवळीचा चालेमोह[1]

मैथिली गीतों में लम्बे घुँघराले बाल वाले माथे पर काली अलकें, पागल करने वाली तिरछी आँखें तथा लाल चन्दन का लेप जिसके मस्तक पर हो, ऐसे ही साजन की कामना की गई है। लाल पलंग और लाल रंग की

1 पाजव मारे ढोव तीस मराठी कोप्पा, पृष्ठ १२६

चूनरी का उल्लेख भी हुआ है, पर राजस्थानी, मालवी और भोजपुरी गीतों से यह कम है। नीले और पीले रंग का प्रयोग तो नाम-मात्र के लिए हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त दोनों रंग मैथिल ललनाओं को पसन्द ही नहीं हैं।

भोजपुरी रंग

भोजपुरी गीतों की प्रकृति एकदम मैथिल की भाँति है, किन्तु उसमें मैथिल की अपेक्षा कतिपय हलके रंग छिड़के हैं। धानी रंग की चुनरी ओढ़े यौवन-सम्पन्ना अपने मायके में तरसती है। उसकी चुनरी से रंग की झलक उठती है। वह सावन की धारी में यौवन परोसती है पर उसे भोगने वाला परदेश में है। प्रतीक्षारत नारी के वियोग के चित्र काले भ्रमर, काग, कोयल या अन्य सन्देशवाहक पक्षी होते हैं। कभी-कभी वियोगिनी की आँखों में काजल नहीं होता और वैधव्य-पीड़िता के काले केशों में सिन्दूर की रेखा नहीं दीखती। प्रयुक्त संकेतों में काले रंग के साथ सिन्दूर का प्रयोग प्रमुख है। वियोग को जगाने के लिए प्रकृति के चटकीले रंग वियोगिनी की दृष्टि में फीके और भाव-वैभवहीन हैं। रंगों का आभास वैसे वियोग के गीतों में कम होता है। परदेश जाते हुए अपने पति से एक स्त्री कहती है—

> जो तुहु साम बहुत दिन लिति है,
> अपनी सुरतिया मोरे चोलियाँ पर लिखले जाव।

(यदि तुम विदेश में अधिक दिन बिताओगे तो मेरी चोली पर अपना चित्र अंकित कर दो।)[1]

चित्रों के अंकन, लेखन या चित्रण के उल्लेख अपने-आप में विभिन्न रंगों के आभास से युक्त होते हैं, पर उनमें उभार नहीं होता। भोजपुरी गीतों के रचयिताओं को लाल और कुसुम्भी रंग से अधिक प्रेम है। कुसुम्भी रंग की साड़ी पहनकर प्रियतमा पीताम्बरधारी प्रियतम से मिलने के लिए आतुर रहती है। पीताम्बर सौभाग्य का सूचक है। कृष्ण की प्रियतमा गोपी

1 भोजपुरी ग्रामगीत, पृष्ठ ३६

और स्वयं कृष्ण साँवले हैं। मैथिल की भाँति 'साँवले-गोरे' का प्रयोग भोजपुरी गीतों में नहीं हुआ है। कुसुम्भी साड़ी, लाल पट, पीत और स्वर्णिम वस्तुओं का संकेत स्वयं रंग की प्रियता का लक्षण ही नहीं अपितु प्रेम का भी सूचक है। राजस्थान अथवा मालवा प्रदेश से आकर भोजपुर बसाने वाले उज्जैनी राजपूतों की कृपा से यदि मालवा के रंग यहाँ प्रिय हो गए हों तो आश्चर्य नहीं।

पंजाबी रंग

पंजाबी गीतों में अन्य रंगों की अपेक्षा आसमानी रंग के प्रति प्रेम व्यक्त हुआ है। नायिका इसी दुविधा में है कि वह आसमानी रंग का घाघरा किस खूँटी पर लटकाए—

आसमानी मेरा घगरा,
मैं केहड़ी किल्ली टंगाँ।[1]

यही आसमानी अधिक गहरा होकर राजस्थान का प्रिय रंग बन गया है। 'नीला घोड़ा रो असवार' (प्रताप) वर्षों से राजस्थान का प्रिय नायक है। कुरु प्रदेश भी उसके घोड़े की रंगत को भुला नहीं सका।

विरोधी रंग

मालवीय गीतों में कहीं-कहीं एकदम दो रंग मिलते हैं (गोरा बदन श्यामली साड़ी)।[2] मैथिल गीतों में साँवले रंग के साथ गोर (श्वेत) का प्रयोग ठीक राजस्थान के 'काला-गोरा' के सदृश है। काला वस्तुतः श्यामल रंग ही है। श्वेत रंग का गीतों में प्रायः उल्लेख नहीं मिलता। योगियों के गीतों में अवश्य ही कपड़ों की धुलाई बगुलों के पर के समान उज्ज्वल बताई जाती है—

---

1 'इसके नीले रंग का है मेरा घाघरा किस खूँटी पर लटकाऊँ!'
—देवेन्द्र सत्यार्थी: बाजत आवे ढोल पृष्ठ ७१

2 इसुरी की फागें, पृष्ठ १९

चूड़ी का उल्लेख भी हुआ है पर राजस्थानी, मालवी और भोजपुरी गीतों से यह कम है। नीले और पीले रंग का प्रयोग तो नाम-मात्र के लिए हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त दोनों रंग मैथिल ललनाओं को पसन्द ही नहीं हैं।

भोजपुरी रंग

भोजपुरी गीतों की प्रकृति एकदम मैथिल की भाँति है, किन्तु उनमें मैथिल की अपेक्षा अधिकतम हल्के रंग छिड़के हैं। धानी रंग की चुनरी ओढ़े यौवन-सम्पन्ना अपने मायके में उतरती है। उसकी चुनरी से रंग की चमक झलकती है। वह स्वर्ण की थाली में भोजन परोसती है पर उसे जीमने वाला परदेश में है। प्रतीकस्वरूप नारी के वियोग के चित्र काले भ्रमर, काग, कोयल या अन्य सन्देशवाहक पक्षी होते हैं। कभी-कभी वियोगिनी की आँखों से काजल नहीं छूटता और वैधव्य-पीड़िता के काले केशों में सिन्दूर की रेखा नहीं दीखती। प्रयुक्त संकेतों में काले रंग के साथ सिन्दूर का रंगीन प्रयोग है। वियोग को उभारने के लिए प्रकृति के पचरंगे रंग वियोगिनी की दृष्टि में फीके और लाल रंगहीन हैं। रंगों का आभास कैसे वियोग के गीतों में कम होता है। परदेश जाते हुए अपने पति से एक स्त्री कहती है—

जो प्रभु हमसे बहुत दिन लागि हैं,
अपनी सुरतिया मोरे बहियाँ पर लिखावे जाव।

(यदि तुम विदेश में अधिक दिन बिताओगे तो मेरी बाँहों पर अपना चित्र अंकित कर दो।)[1]

स्त्री के अंजन, नैनन या बिन्दिया के उल्लेख अपने आप में विभिन्न रंगों के आभास से युक्त होते हैं पर उनमें उभार नहीं होता। भोजपुरी गीतों के रचयिताओं को लाल और कुसुम्भी रंग से अधिक प्रेम है। कुसुम्भी रंग की साड़ी पहनकर प्रियतमा पीताम्बरधारी प्रियतम से मिलने के लिए आतुर रहती है। पीताम्बर सौभाग्य का सूचक है। कृष्ण की रसिया गोपी

१ भोजपुरी ग्रामगीत, पृष्ठ ३४

और स्वयं कृष्ण साँवले हैं। मैथिल की भाँति 'साँवले-गोरे' का प्रयोग भोजपुरी गीतों में नहीं हुआ है। कुसुम्भी साड़ी, लाल पग, पीत और रक्तिम वस्तुओं का संकेत स्वयं रंग की प्रियता का लक्षण ही नहीं अपितु प्रेम का भी सूचक है। राजस्थान अथवा मालवा प्रदेश से आकर भोजपुर बसने वाले उजैनी राजपूत की कृपा से यदि मालवा के रंग यहाँ प्रिय हो गए हों तो आश्चर्य नहीं।

पंजाबी रंग

पंजाबी लोकों में अन्य रंगों की अपेक्षा आसमानी रंग के प्रति प्रेम व्यक्त हुआ है। नायिका इसी द्विविधा में है कि यह आसमानी रंग का घाघरा किस खूँटी पर लटकाए—

> आसमानी मेरा घग्घरा,
> मैं केहड़ी किल्ली टंगा।[1]

यही आसमानी अधिक गहरा होकर राजस्थान का प्रिय रंग बन गया है। 'नीला घोड़ा रो असवार' (प्रताप) बचपन से राजस्थान का प्रिय नायक है। कुरु प्रदेश भी उसके पीछे की देन को भुला नहीं सका।

विरोधी रंग

भारतीय गीतों में कहीं-कहीं एकदम दो रंग मिलते हैं (गोरा बदन स्यामली साड़ी)।[2] मैथिल गीतों में साँवले रंग के साथ गौर (श्वेत) का प्रयोग ठीक राजस्थान के 'काला-गोरा' के सदृश है। श्याम वस्तुतः रमणीय रंग ही है। श्वेत रंग का गीतों में प्रायः उल्लेख नहीं मिलता। धाविकों के गीतों में अवश्य ही काली की गुलाबी चुनरी [illegible] बनकर बताई जाती है—

---

1 'इसके नीचे रंग का है मेरा घाघरा, किस खूँटी पर लटकाऊँ?'
—देवेन्द्र सत्यार्थी, बाजत आवे ढोल, पृष्ठ ४३

2 इसुरी की फागें पृष्ठ ११

अधका पोखिया बधै भीक आये,
कोये बहुआ के पाँव ।[1]

मैथिल गीतों में पत्र की अपेक्षा 'हाममिक' अवस्था अधिक है। उनमें सुव्यवस्थित अभिव्यक्ति की झलक है। भक्त-कवियों एवं विद्यापति ठाकुर के प्रभाववश कृष्ण मैथिल और ब्रज के प्रिय पात्र हैं। साँवले रंग की पसन्द का यह भी प्रमुख कारण है। साँवले रंग पर पीताम्बर ही शोभा पाता है। लाल ओष्ठ श्यामल और पीताभ रंगत में चमक उठते हैं जिनके मध्य श्वेत दंतुल पाँति अपनी निराली रंगत से सभी लोकमानसों को मोहती है।

रंगाभास

'रेशम डोर' का उल्लेख सभी भारतीय गीतों में मिलता है। यह स्वर्णवर्ण रंगाभास की दृष्टि से उल्लेखनीय है। सुन्दर गीतों में झूलने का जहाँ भान होता है वहाँ निश्चयत अनुपम छवि और गन्ध भी रंगाभास उत्पन्न करने में योग देते हैं। 'सोलह शृंगार' का उल्लेख बहुत ही गीतों में अनेक रंगों को भासित करता है। स्वर्ण या कंचन सोने की ओर रजत श्वेत की आभा देते हैं। दूध, नदी, पेड़, पौधे, घर बार, पक्षी, पशु आदि उपयुक्त रंग पैदा करते हैं। राजा दशरथ सोने के खड़ाऊँ पहनकर बैठ के नीचे खड़े हैं जिसके पत्र भी कंचन के हैं। पीताभास-चित्र को उभारने में लोकगीतों का यह वर्णन उपयुक्त है।[2]

'मूमल' राजस्थान में एक प्रख्यात गीत है। मूमल अमरकोट के राणा महेन्द्र की प्रेमिका थी। 'मूमल' के सौन्दर्य-वर्णन में प्रयुक्त उपादान रंगों का गहरा आभास लिये हैं। गीत की प्रथम तीन पंक्तियों में ही काले रंग और उसकी रंगतों को एक साथ प्रस्तुत कर दिया गया है—

काली रे काली काजलिये री रेखड़ी रे

---

१ गावत आवे लोग, पृष्ठ ४१

२ देखिए, ग्राम साहित्य, पहला भाग, पृष्ठ ४१

होजी रे, कालोड़ी कांठल में चमकै बीजळी
म्हारी बरसाळे री मूमल हालैनी ऐ आलीजे रे देस।[1]

(काले कजरारे कज्जल की पतली-सी रेखा मूमल की सुन्दर आँखों में ऐसी शोभा दे रही है मानो भूरे भूरे पर्वतों की सुदूर श्रेणी में बिजली चमक रही हो।)

रंगों का उल्लेख 'सूरजजी' नामक राजस्थानी गीत में विशेष महत्त्व है। इसमें सफेद (धोळा), लाल, काला, पीला, हरा आदि रंगों का एक साथ उल्लेख है। गीतकार ने बहू रैनादे (रन्नादे, सूर्य की पत्नी) के दाँत और उनका सूरज सफेद, चूड़े की मजीठ और बहू रैनादे के नेत्र लाल, मन के भ्रम और रैनादे के केश काले, मन की उमंग और रैनादे का चीर पीला, तथा मन की दूब और रैनादे की कोख हरी बताई है। किन्तु सूरज का घोड़ा वाटी-वाटी से इन सभी रंगों का प्रयाम है (सूर्य में सातों रंगों का समावेश है)। लोक-गीतकार की दृष्टि से समग्र रूप से उनका सूरज उजले रंग का और घुड़ला सिन्दूरी है—

उजळो बरणास बरस्यो
घोड़म रो सिन्दूर बरस्यो[2]

इसी प्रकार पीपल के पत्ते से नायिका के पाँव की चिकनाहट, सुपारी से माथे का आकार, सर्प से स्वभाव की चपलताहट, नींबू की फाँक से नैनों की बनावट, मखमल (रेशम) से सुन्दरी की पीठ, वासुकि नाग से वेणी की लम्बाई, कदली-स्तम्भ से जंघा की तुलना तथा शरीर की स्वर्ण प्रभास से एवं मुख की चाँदनी के बिखरे हुए शीतल प्रकाश से उपमाएँ सौन्दर्य वर्णन के साथ ही अपरोक्ष रूप से रंगों का आभास प्रस्तुत करती हैं। इतना ही नहीं, चित्र की पूर्णता को व्यक्त करने के लिए नायिका के यौवन का वर्णन हुए है तथा शरीर के सुगठन और लावण्य को बताते हुए रंगों की उपमाओं से अलंकृत किया है (रा० लो०, पृष्ठ २९८)।

१ राजस्थान के लोकगीत मूमल (११९) पृष्ठ १६२
२ राजस्थान के लोकगीत सूरजजी (११२) पृष्ठ १११

अपना पोखिया काटे कीक खाते
चोरै बकुला के पाँख ।[1]

मैथिल गीतों में परख की अपेक्षा 'हार्मोनिक' अवस्था अधिक है। उनमें सुव्यवस्थित सम्मिश्रण की झलक है। भक्त-कवियों एवं विद्यापति ठाकुर के प्रभावस्वरूप कृष्ण मैथिल और ब्रज के प्रिय पात्र हैं। साँवले रंग की पसन्द का यह भी प्रमुख कारण है। साँवले रंग पर पीताम्बर ही शोभा पाता है। लाल ओष्ठ श्यामल और पीताभ रंगत में चमक उठते हैं जिनके मध्य श्वेत धवल पाँति अपनी निराली रंगत से सभी लोकभावकों को मोहती है।

रंगाभास

'रेशम डोर' का उल्लेख सभी भारतीय गीतों में मिलता है। यह स्वरसंगम रंगाभास की दृष्टि से उल्लेखनीय है। झूमर गीतों में झूमने का जहाँ भान होता है वहाँ चित्रमय अनुपम छवि और मन भी रंगाभास उत्पन्न करने में योग देते हैं। 'सोलह शृंगार' का उल्लेख सहज ही गीतों में अनेक रंगों को भासित करता है। लाल या कंचन सोने की ओर रजत श्वेत की आभा देते हैं। हरा नदी, पेड़, पौधे पर नार, कदली, कच्च आदि उप करण रंग पैदा करते हैं। राजा दशरथ सोने के खड़ाऊँ पहनकर खेत के बीचे खड़े हैं जिनके पग भी कंचन के हैं। पीताभास-चित्र को उभारने में लोकगीतों का यह वर्णन उपयुक्त है।[2]

'भूमल' राजस्थान में एक प्रचलित गीत है। भूमल अमरकोट के राना महेन्द्र की प्रेमिका थी। 'भूमल' के सौन्दर्य-वर्णन में प्रयुक्त उपादान रंगों का गहरा आभास लिये हैं। गीत की प्रथम तीन पंक्तियों में ही काले रंग और उसकी रंगतों को एक साथ प्रस्तुत कर दिया गया है—

काली रे काली काजलिये री रेखड़ी रे

1 बाजत आवे ढोल, पृष्ठ ६३
2 देखिए, ग्राम साहित्य पहला भाग पृष्ठ ६१

हांजी रे, काजळी कांठळ में चमके बीजळी
म्हांकी बरसाये री मूमल हालैसी बीजे काळी-जे रे देस।[1]

(काले कजरारे बादल की पतली-सी रेखा मूमल की सुन्दर आँखों में ऐसी शोभा दे रही है मानो भूरे भूरे पर्वतों की सुदूर मेखी में बिजली चमक उठी हो।)

रंगों का उल्लेख 'सूरजजी' नामक राजस्थानी गीत में विशेष द्रष्टव्य है। इसमें सफेद (घोड़ा), लाल, काला, पीला, हरा आदि रंगों का एक साथ उल्लेख है। गीतकार ने बहू रैवादें (रन्नी देवी, सूर्य की पत्नी) के दाँत और उसका सूरज सफेद, मुड़े की मजीठ और बहू रैवादें के नेत्र लाल, घन के कल और रैवादें के केश काले, चने की दाल और रैवादें का चीर पीला, तथा वन की दूब और रैवादें की केस हरी बताए हैं। किन्तु सूरज का घोड़ा सारी-सारी से सात रंगों का बताया है (सूर्य में सातों रंगों का समावेश है)। लोक-गीतकार की दृष्टि से उदय रूप से उगता सूरज उसके रंग का और कुमका सिन्दूरी है—

उगतो उजास बरणों
आथम सो सिन्दूर बरणो[2]

इसी प्रकार पीपल के पत्ते से नायिका के पाँव की चिकनाहट, सुपारी से एड़ी का साहश्य, झर्मन से स्वभाव की चरपराहट, नीबू की फाँक से नैनों की बनावट, मखमूल (रेशम) से सुन्दरी की पीठ, चाकूकी नाग से वेणी की लम्बाई, कदली-खम्भ से जंघा की तुलना तथा शरीर की सूर्य प्रभा से एवं मुख की चाँदनी के निखरे हुए शीतल उजास से उपमाएँ सौन्दर्य वर्णन के साथ ही अपरोक्ष रूप से रंगों का आभास प्रस्तुत करती हैं। इतना ही नहीं, रंग की पूर्णता को व्यक्त करने के लिए नायिका के यौवन का उफान दूध से तथा शरीर के कुमकुम और स्वास्थ्य को जमे हुए दही की उपमाओं से अलंकृत किया है (रा० लो०, पृष्ठ २९८)।

1 राजस्थान के लोकगीत मूमल (११६), पृष्ठ २६२
2. राजस्थान के लोकगीत सूरजजी (११२), पृष्ठ २६१

बुन्देलखण्ड के लोक-गायक ने भी अपने एक फाग-गीत में अनेक रंगों की छटा दिखाई है। पूरा फाग यहाँ उद्धृत करना उपयुक्त होगा—

> चूनर चाऊ चपेवन वारी,
> पैर यार हमारी।
> कउ *पिसाई प्याजी बंगाली*
> *अगरई* कउ *अनारी*।
> *पीरी* कउ *हरीरी नुकरइ*।
> *कुसमानी* कउ   री
> कउ *सुरमई* कउ सरदई सुन्दर
> *सुर्ती* कउ *सुमारी*
> ओसो देवे नाम ईसुरी
> सबरे रंगन सबारी।[1]

विभिन्न अवस्था के द्योतक रंगों की दृष्टि से यह फाग उल्लेखनीय है। मगर लोक गीतों में एकदम एक ही स्थान पर इतने रंग कठिनाई से मिलते हैं।

ऋतुओं से सम्बन्धित गीतों में प्रकृति के रंगों की छटा मिलती है। उत्सवों त्यौहारों अथवा विवाह आदि अवसरों के गीतों के रंग चटकीले होते हैं। धार्मिक एवं पूजा-विधियों से सम्बन्धित गीतों के रंग सात्विक हैं। चन्दन चौक, उजले अक्षत, गजमुक्ताओं के हार, पीला चन्दन और स्वर्ण आभा वाली वस्तुओं का उनमें उल्लेख मिलता है। ऋतु-गीतों में सावन और होली के गीत भी हैं। सावन में श्यामल घटाओं का रस स्नेह की गहराई और 'कजली' गीतों में मेघाच्छन्न गहनता होती है। होली के गीतों का रंग केसरिया प्रकृति का है, क्योंकि पलाश के फूलों (टेसुओं) से केसरिया रंग उभारता जाता है। अबीरी गुलाली भी उसमें सम्मिलित है।

शृङ्गार के गीत सजाई, गन्ध और स्पर्श लिये होते हैं। विभिन्न पुष्पों के वर्णन तथा चन्द्र, सूर्य, जल, आकाश, वृक्ष, पक्षी के कलरव और वायु की सरसराहट आदि में कुछ व्यापारों का संकेत अनेक प्रकार से रंगों को उभारते हैं। मैथिल के 'बटगमनी' के गीत अधिकांश में ऐसे ही हैं।

विस्तारपूर्वक वस्तुओं का उल्लेख करने की प्रवृत्ति का मध्यकालीन परम्परा से सम्बन्ध है। जायसी ने 'पद्मावत' में भोजन आदि के वर्णन द्वारा ऐसी अनेक प्रकार की तालिकाएँ प्रस्तुत की हैं। अवधी में 'तुलसीदास गँवार' की छाप वाले एक प्रसिद्ध गीत में अनेक प्रकार के व्यंजन और

1 ईसुरी की फागें, पृष्ठ १०

भारतवर्ष की प्रसिद्ध नदियों के नाम गिना दिये हैं।[1] खोज करने पर ऐसे कई गीत मिलते हैं। आभूषणों का ब्यौरेवार वर्णन भी भारतीय गीतों की एक प्रवृत्ति है। इन प्रवृत्तियों में रंगों के प्रति रूढ़िगत परम्परा का निर्वाह गीतों में लक्षणीय है। 'पचरंगी चुनरी', 'पचरंगी पाग', सोने की थाली, रूपे की झिंझरी, मोतियों का चौक, पियरी (पीला वस्त्र) का शकुन, हल-दीये चीर, 'लीलो' घोड़ो, रेशम डोर, काली कोयल, लाल पंछी, हर्‌या मूँग की दाल, हाथी दाँत आदि प्रयोग शाश्वत रंगतों को व्यक्त करते हैं। सभी भारतीय गीतों में ऐसी कई रंग रंगतों के द्योतक उपकरण प्राप्त हैं।

रंगों की यह आभा शब्द-चित्रों से भी व्यक्त होती है। इनमें कल्पना-जन्य बुद्धि अथवा परम्परा के विश्वास ही रंगतों को पकड़ लेते हैं। जिन रंगों में गति का आभास होता है वैसे रंग भारतीय गीतों में कठिनाई से मिलते हैं। पूर्वाग्रहों से युक्त रंग विषयक भावधारा लोकगीतों में निहित हैं। इसलिए जहाँ हम भौगोलिक चित्रों की चर्चा करते हैं वहाँ भारतीय गीतों में व्यक्त होने वाली 'हेरालिडक' अवस्था विचारणीय है।

हमें यह स्वीकार करना होगा कि लोक-साहित्य में जिन सैकड़ों रंगतों का उल्लेख प्राप्त है, वे सभी लोकगीतों में नहीं मिलते। 'लोकगीतों' के रंग सीमित, निश्चित और स्थूल रूप में छिड़के हुए हैं जिनका समग्र रूप से प्रभाव पड़ता है और जो कृषि-सभ्यता के विकास से सम्बद्ध चित्रों को प्रतिबिम्बित करने में योग देते हैं।

---

१ कविता-कौमुदी, पृष्ठ १९९

लोकगीतों में नई चेतना

आँवा, नीबू, नारियवा
गन्ना दम्बा रस दे।

(—मालवी)

लोकगीत विशाल जन-समूह की अनुभूतियों के निचोड़ हैं, जिनमें सभी प्रकार की अनुभूतियाँ भावनाओं की तीव्रता को लेकर फूट पड़ती हैं। गाँवों में रहने वाला खेतिहर मानव महाजनों, सामन्तों और साहूकारों का शिकार होकर धीरे धीरे इस निष्कर्ष पर पहुँच गया कि 'आम, नीबू और नारियल बिना गन्ना दबाए रस नहीं देते।' यह एक नये जीवन की खोज का प्रथम रूप में प्रकट करता है। अब वह भी ठीक तरह से समझने लगा है कि दुनिया दो वर्गों में बँट गई है और मिल के शोषण से उसने सीखा है कि शोषक शक्तियों का विनाश उसके संगठन और एकता में निहित है। भविष्य के प्रति उसे विश्वास है।

ई दुख जावे रे म्हारा मनभाया,
ई दुख जावे रे—

लोकगीतों द्वारा किसी देश की संस्कृति और उसके वास्तविक जन जीवन का परिचय प्राप्त होता है। रीति-रिवाजों और धार्मिक प्रसंग विशेष के गीतों से जहाँ एक सामाजिक पक्ष का एकांगी स्वरूप व्यक्त होता है,

हाँ स्वरूप एवं देखने और समझने के लिए उन गीतों की खोज आवश्यक है जो आर्थिक कठिनाइयों और दारिद्र्य की भूमि पर पनपते हैं।

गोर्की ने गीतों को सामूहिक प्रेरणा का सर्वोत्तम स्रोत कहा है। उसने जनता की सृजनात्मक शक्ति का उल्लेख करते हुए लोकगीत आन्दोलन के सिलसिले में कहा था कि "जनता सृष्टि का प्रथम दार्शनिक और आदि कवि है।" राल्फ वान विलियम्स ने इसी भाव को दूसरे शब्दों में रखने का प्रयत्न किया है, जिसमें लोकगीत को उस मूल पेड़ की तरह बताया है जिसकी जड़ें भूतकाल में स्थित हैं और जिसमें नित्य नई-नई शाखाएँ और कोंपलें फूटती हैं। यही पेड़ जनता के कवि-रूप का परिचायक है।

लोकगीतों की परम्परा इन्सान के आदिम-युग से चली आ रही है। युगों की छाप उसके भावों पर पड़ी और वह अपने जीवन को ईमानदारी से अपनी बोलियों में प्रकाशित करता हुआ आज भी विपरीत परिस्थितियों में संघर्ष करता चला आ रहा है। उसने समय-समय पर शोषण के विरुद्ध गीतों में आवाज उठाई, अपने श्रम का परिहार गीतों के सहारे किया, नया उत्साह और आगम गीतों द्वारा प्राप्त किये और इतना ही नहीं, मन की छिपी हुई मीठी वाणी के सुख और दुख को इन्हीं गीतों में ढाला। यों सभी प्रकार के संघर्षों का सामना करते हुए मनुष्य क्रमशः अपने श्रम की शक्ति पर विश्वास करने लगा जो उसके लिए अधिक उत्पादन और विरोधी शक्तियों से लोहा लेने के हेतु सहायक सिद्ध हुआ। गोर्की ने इसीलिए लोकगीतों की गंगा को 'दी आरता क्रियेटिवनेस ऑफ दी पीपुल' कहा है।

युग की बदलती हुई परिस्थितियों में आज गीतों के भीतर एक नई रोशनी के चिह्न प्रकट होने लगे हैं। उनमें 'सोने की थाली में भोजन परोसा' की अकल्पित कल्पना, वीरों को देवतुल्य मानने का विश्वास, अन्धश्रद्धा, भ्रम, आदि अब जीवन के कठोर सत्य से टकराकर ढहने लगे हैं। थाली तो दूर रही, पत्ती और जीवन में शान्ति के प्रश्न प्रबल हो उठे हैं।

इस दृष्टि से जब हम सन् सत्तावन के विद्रोही स्वर, छप्पन के अकाल

के उद्गार, अंग्रेजों के प्रति विरोध को व्यक्त कर देश के स्वाधीनता-संग्राम के महत्त्व को उद्घाटित करने वाले गान, क्रान्तिकारी वीरों की मौत पर आँसुओं से भीगे लोकगीत तथा भूख और दारिद्र्य से पीड़ित हृदय की पुकार का अध्ययन करते हैं तो एक नया ही हिन्दुस्तान दीख पड़ता है। और इसी परम्परा को आगे ले जाने वाली पीढ़ी में एक नया स्वर तथा आने वाले भविष्य के प्रति नये विश्वास के दर्शन होते हैं।

औद्योगिक क्रान्ति ने समाज में बड़ा परिवर्तन उपस्थित किया। दुखी किसान मजदूर बनने लगे। समृद्धि एक ओर झुक गई। शोषण का चक्र गति पकड़ने लगा और गरीबी ने लोगों का गला दबाना प्रारम्भ कर दिया। 'धन से देश भरा, जंगल और पहाड़ कट गए। जो पैसा था, उसे मैंने पेटों को सौंप दिया और पेट पीठ से चिपक गया'—ऐसे भाव कहीं गीतों में व्यक्त होने लगे। पर जब युद्ध की ज्वालाएँ संसार पर झुकने लगीं तो ऐसा लगा मानो लोगों पर संकट की लपटें बरसने वाली हैं। अकाल पड़ने होते गए। मँहगाई के कारण बेचारा शरीर गलकर गिरा, कजरी और कबीर मानो भूल गया। अब तो उसे गोरी के उभरे स्तन देखकर भी हृदय में पीड़ा नहीं उठती—

मँहगी के मारे बिरहा बिसरिगा, भूलि गई कजरी कबीर।
देखिकै गोरीक उभरा जोबनवा अब उठै न करेजवा में पीर।

इस मँहगाई का बुरा असर देश के प्रायः निम्न और मध्यवर्गीय परिवारों को हुआ; विशेषतः निम्न-मध्यवर्गीय कुटुम्बों की स्थिति बिगड़ गई। उन्हें छोटी-छोटी बातों के लिए तरसना पड़ा। मालवा की स्त्रियों ने गाया—

थें हरो रंग पीळो रंग मोंगो कर दियो
कुं कुं कर दियो मोंघो
थें लाल रंग को तो नाम भुलाई दियो
सुगड़ा काम से रंगा रे
थें हाथ जामण सब मोंगा करी दियो
गायक कर दी मुसकल

घी को तो भाव चढ़ाय दियो
चोखा काम से बीमा रे !

(इस युद्ध ने हरा और पीला रंग मँहगा कर दिया है तथा कुंकुम फीका कर दिया है। अर्थात् युद्ध की भयंकरता से माँग का कुंकुम फीका पड़ गया है—हमारा सुहाग काँप रहा है। लाल रंग का भाव चढ़ा दिया है। हम सुगड़े काहे से रंगें ? लाल-चावल तब मँहगे कर दिए, और शक्कर तो मिलना दुश्वार है। घी का भी भाव चढ़ा दिया है, हम चावल काहे से खावें !)

मँहगाई की अभिव्यक्ति में ब्रह्मा तक को लपेट लिया गया है, जिससे तंगी का आधिक्य अच्छी तरह से प्रकट हो सके। भारतीयों का एक गीत है जिसमें एक हरिण बहेलिये के फन्दे में फँस जाता है। उस समय वह हरिणी से कहता है—"ब्रह्मा के घर में जब भी तंगी आ गई, तो अब वह तेरा माँस देखकर खाएगा।"

बिरमा के घर अरथ घोटाले
बेचि खाय मोर माँस

'भूखे भजन न होय गुपाला' की उक्ति प्रायः सभी ने सुनी है। बिना पेट में कुछ डाले कोई काम नहीं होता। इसी प्रकार भूखा कवि कहीं और से कविता उत्पन्न नहीं कर सकता। उसे अन्न चाहिए, तभी वह रचना प्रस्तुत कर सकता है। इस विचार को निम्न पंक्तियों में बड़ी सादगी से व्यक्त किया गया है—

ना बिरहन को खेती पाती, ना बिरहन को बैंज।
याही पेट से बिरहा उपजै गावैं दिन औ रात।

(बिरहों की न खेती होती है, न बिरहों का व्यापार। बिरहे इसी पेट से पैदा होते हैं जिन्हें मैं रात-दिन गाता फिरता हूँ।)

एक अहीर लोकगीत में राम और लक्ष्मण भिखारी बना दिये गए हैं। अपनी सीमाओं और संस्कारों के अनुकूल पात्रों को स्वरूप प्रदान कर देना लोक-गीतकार की अपनी स्वाभाविक वृत्ति है। वह राम-लक्ष्मण को गले में

के उद्गार, अंग्रेजों के प्रति विरोध को व्यक्त कर देश के स्वाधीन
के महत्व को उद्घाटित करने वाले भाव, क्रान्तिकारी वीरों के
आँसुओं से भीगे लोरीके गीत अथवा भूख और दारिद्र्य से पीड़ि
की पुकार का अध्ययन करते हैं तो एक नया ही हिन्दुस्तान दीख प
और इसी परम्परा को आगे ले जाने वाले गीतों में एक नय
आने वाले भविष्य के प्रति नये विश्वास के दर्शन होते हैं।

औद्योगिक क्रान्ति ने समाज में बड़ा परिवर्तन उपस्थित किय
विश्वास मजबूत करने लगे। समृद्धि एक ओर झुक गई। योरप
गति पकड़ने लगा और मशीनों ने लोगों का गला दबाना प्रारम्भ क
'धन से रेल चली, जंगल और पहाड़ कट गए। जो पैसा था,
पैसों को सौंप दिया और पेट पीठ से चिपक गया'—ऐसे भाव सभी
व्यक्त होने लगे। पर जब युद्ध की ज्वालाएँ संसार पर छाने लगीं।
लगा मानो लोगों पर संकट की लपटें बरसने वाली हैं। सम्पन्न
गए। मँहगाई के कारण वैवाहिक आदि मामला बिगड़ा, जवानी
जाना मुश्किल गया। अब तो बड़े लोगों के उभरा रूप देखकर भ
पीड़ा नहीं उठती—

मँहगी के मारे बिरहा बिसरिगा भूलि गईं कजरी
देखिके गोरीके उभरा जोबनवा अब उठै न कलेजवा

इस मँहगाई का सब देश के साथ निम्न और मध्यवर्गी
हुआ, विशेषतः निम्न-मध्यवर्गीय कुटुम्बों की स्थिति गिर
छोटी-छोटी चीजों के लिए तरसना पड़ा। मालवा की स्त्र

थी हरो रंग पीलो रंग लोंगो अब दियो
कु कु अब दियो पीलो
थी भारत रंग को थी भाव चढ़ाई दियो
सुगरा काप से रंगा रे
थी एक भारत सब भीगा करी दियो
सस्तर सब थी मुसकल

कुवे पर कुआला जाओ
जाओ दोय आना कमाय
बोहरा घर सापड़ ग्यो नाज
डावरिया भूखा मरे।

(कुवे पर काम करने जाओ, दो आने कमाकर लाओ। प्रियतम, घर अनाज समाप्त हो गया। बच्चे भूखों मर रहे हैं।)

पिछले कितने ही वर्षों का ऐसा ही इतिहास भारतीय किसान का है। औद्योगिक प्रगति की आड़ में पूँजीवाद ने उसकी बची हुई शक्ति पर भारी प्रहार किये हैं।

कर्ज किसान की दूसरी समस्या है, जो अन्य समस्याओं से मुख्यतः सम्बन्धित है। वह कर्ज लेता है, पर उसे चुका नहीं पाता। शायद वह अच्छी तरह जानता है कि मूल रकम से कई गुना अधिक दे चुकने पर भी उसका कर्ज कम नहीं होता। गाँवों में फैले हुए सूदखोर बोहरों के शोषण से वह अभ्यस्त हो चुका है। अपनी गाय, बैल, बछड़ों आदि को बेच देने पर भी वह इनसे छूट नहीं पाता। इसी अनुभव को कड़वे घूँट की तरह उतार कर कोई किसान कहता है—

ये करजो सिर मत करियो, थो मत करियो।
ये करजो माल बुरो छे थो मत करियो॥

भारतीय निम्न-वर्ग के गीतों में परेशानियों से पीड़ित मानवता के मूल में विद्रोहात्मक चिनगारियाँ सुलगने लगी हैं। अहीरों, कहारों, धोबियों, चमारों और भिखारियों के गीतों में गरीबी की अभिव्यक्ति अधिक तीव्र होकर आ रही है। अहीरों के नाच तो गीतों से ही मुखरित होते हैं। उनका नाचना वास्तव में श्रम को थकाने का बहाना-मात्र है। उसमें बिरहे अधिक गाये जाते हैं। ऐसे बिरहों में कठोर श्रम में व्यस्त मानव की लालसाएँ अपने में ही कसमसाती हुई धरती पर आ जाती हैं। निश्चय ही उनमें जीवन की मजबूरियाँ होती हैं।

छत्तीसगढ़ी गीतों में 'बाँस गीत' में, जो कि यादव जाति का अपना गीत

मुँह लटकाये दूर देश में भीख माँगते हुए दिखाया है। यह उसकी अपनी परिस्थितियों का तकाजा है जिसकी वजह से वह अपने प्रसिद्ध वीरों और आदर्श महापुरुषों को अपने उच्च आसनों से उतारकर अपने रूप में मिलाना चाहता है। वह उन्हें अपने से भिन्न और परायेपन के भावों से युक्त नहीं देखना चाहता। उनकी मुसीबतों को अपनी मुसीबतों से मिलाकर वह सहानुभूति करने का प्रयास करता है।

गृहस्थ जीवन की कठिनाइयों के कुछ कठोर चित्र मेवाड़ी और राज-स्थानी गीतों में अच्छे उतरे हैं। एक राजस्थानी गीत में गीतकार ने बैलों का उदाहरण देकर बताया है कि वे दिन-रात मेहनत करते हैं और उनका फल दूसरा भोगता है। इसी प्रकार किसान बेचारा दिन-भर परिश्रम करता है, पर वह स्वयं अपने परिश्रम का फल नहीं भोग पाता। उसे अपने कुटुम्ब का पालन करना भी मुश्किल हो जाता है।

दिन रातो जागतड़ा मर्यों
सुख सूं कदेय न सोवां, मेरी स्याम
घर चालो घर चालो मोठ दुहेली
मेरी स्याम घर चालो जी।

(दिन-रात भाग-दौड़ में मरते हैं। सुख से कभी सोना नहीं होता, घर चलाना बड़ा कठिन है। मेरे स्वामी घर-बार बड़ी दुहेली है।)

शोषण का स्वरूप धीरे धीरे गीतों में स्पष्ट होने लगा है। इस शोषण के परिणामस्वरूप कभी-कभी भूखों मरने की नौबत आ जाती है। पत्नी अपने पति से कहती है 'हे स्वामी, घर में अनाज समाप्त हो गया बच्चे भूखों मर रहे हैं। ये सुबह उठते ही कलेवा माँगते हैं। मैं कहाँ से लाऊँ! घर में पैसे की उपज नहीं। आगे का काम किस तरह चले?'

किसान जब मजदूर बनने जाता है तो उसके पूर्व घर की यही स्थिति उसे अपने परम्परागत धन्धे से विमुख करने में योग देती है। इन पंक्तियों में पत्नी सलाह देती है—

कुवे पर कमाता आवो
आवो खेम आवा कमाव
होवा, पर आपड़ क्यो खाव
टाबरिया भूखा मरे।

(कुवे पर काम करने वालो, दो आने कमाकर लाओ। फिफ्टम, पर में कमाव समाप्त हो गया। बच्चे भूखों मर रहे हैं।)

पिछले कितने ही वर्षों का ऐसा ही इतिहास भारतीय किसान का है। औद्योगिक प्रगति की बाढ़ में पूँजीवाद ने उसकी कमी हुई शक्ति पर भारी प्रहार किये हैं।

कर्ज किसान की दूसरी समस्या है, जो ऊपरी समस्याओं से सम्बन्धित है। वह कर्ज लेता है, पर उसे चुका नहीं पाता। शायद वह अच्छी तरह जानता है कि मूल रकम से कई गुना अधिक दे चुकने पर भी उसका कर्ज कम नहीं होता। गाँवों में फैले हुए सूदखोर बोहरों के शोषण से वह अभ्यस्त हो चुका है। अपनी गाय, बैल, बकरी आदि को बेच देने पर भी वह इससे छूट नहीं पाता। इसी अनुभव को कड़वे घूँट की तरह उतार कर कोई किसान कवि कहता है—

ऐ करजो सिर मत करियो को मत करियो।
ऐ करजो माथ धरो पै को मत करियो॥

भारतीय निम्न-वर्ग के गीतों में परेशानियों से पीड़ित मानवता के मूक में विद्रोहात्मक चिनगारियाँ सुलगाने लगी हैं। अहीरों, कहारों, धोबियों, चमारों और भिखारियों के गीतों में गरीबी की अभिव्यक्ति अधिक तीव्र होकर आ रही है। अहीरों के नाच तो गीतों से ही सुसज्जित होते हैं। उनका नाचना वास्तव में श्रम को पचाने का बहाना-मात्र है। उसमें सिर्फ अधिक गाये जाते हैं। ऐसे गितों में कठोर मन में व्यस्त मानव की लालसाएँ अपने में ही कसमसाती हुई कण्ठों पर आ जाती हैं। निश्चय ही उनमें जीवन की मजबूरियाँ होती हैं।

छत्तीसगढ़ी गीतों में 'भोजि गीत' में, जो कि राज्य जाति का अपना गीत

'प्रवाद' का बिगड़ा रूप प्रतीत होता है। 'प्रवाद' का शाब्दिक अर्थ है चोर से कहना, जनरव, किसी को दी जाने वाली सूचना, अफवाह आदि। यह व्युत्पत्ति मराठी के प्रसिद्ध कवि (शाहीर) शाहिरकार तो कम-से कम स्वीकार करते हैं, चाहे और स्वीकार करें ही न करें। महाराष्ट्रीय शब्द-कोश के लेखक का मत है कि "'पवाड़ा' का अर्थ है कीर्ति। यह प्राकृत शब्द है। पुरानी मराठी के पद्य-साहित्य में यह प्रयुक्त होता रहा है। अतः अब अर्वाचीन यह शब्द ऐतिहासिक व्यक्ति के किसी चरित्र प्रसंग-वर्णन के लिए शाहीर काव्य-साहित्य (मराठी) में प्रयुक्त होता है। पवाड़ा अत्यन्त स्फूर्ति होता है। उसमें गूढ़ भावों का अभाव रहता है। यह साहित्य सर्वसाधारण जनता के लिए लोकमान्य, सरल, नित्य बोली जाने वाली लोक-भाषा में रचा जाता है। इसमें उपमा, उत्प्रेक्षा आदि लोक प्रचलित होते हैं।"" इन पवाड़ों में मराठी तथा महाराष्ट्र की विशेषताएँ प्रतिबिम्बित हुई हैं।"[1]

'पवाड़ा' अपनी विशेषताओं के कारण ही ब्रज में 'पमारा', मालवा में 'पवाड़ो', मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश में 'पंवारा' होकर लोकगीतों में प्रचलित हुआ है। डॉ० सत्येन्द्र ने पमारे के विषय में कहा है कि वे "लम्बे आख्यान के रूप में हैं। प्रयोग की दृष्टि से 'पमारा' ब्रज के मुहावरे में लम्बा, झमेले, कुछ का पर्याय हो गया है।" बुन्देलखण्ड में यही पंवारा एक लम्बी कहानी, जो शीघ्र ही समाप्त न होती हो, के अर्थ में प्रचलित है। 'पवाड़ा' शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सक्सेनाजी का कथन है—"यह बात किसी सीमा तक उचित प्रतीत होती है कि इन गीतों में पहले पंवार—परमार—क्षत्रियों की गाथाएँ गाई जाती होंगी। ये लम्बी होती होंगी और लड़ाई झगड़े से परिपूर्ण होती होंगी। फलतः परमारों के गीत होने के कारण 'पंवारे' कहलाए।"[2] इनके सोचने के लिए एक नया आधार अवश्य मिल जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि परमार क्षत्रिय ही महाराष्ट्र में पंवार हो गए, जिनके शौर्य-पराक्रम की गाथाएँ 'पवाड़े' कहलाती रही हों।

---

१ महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश, विभाग १७वाँ पृष्ठ ११०

२ ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन, तीसरा अध्याय, पृ० १७८

समाज-शास्त्र की दृष्टि से यह प्रकरण महाराष्ट्र में 'गोंधल' प्रथा से सम्बन्धित माना जाता है। कुल-देवता की पूजा करते समय 'गोंधल घालण्याची' प्रथा महाराष्ट्र में पूर्व प्रचलित है। क्योंकि सन्त नामदेव की रचना में गोंधल नाम के एक प्रकरण का प्रयोग सिद्ध करता है कि यह प्रथा नामदेव के पूर्व प्रचलित थी। गोंधल प्रथा के पतन से गोंधली नामक एक जाति ही बन गई। आज भी गोंधली गोंधल के समय पाँच देवों के नाम लेकर बाद में पूर्व पुरुषों के चरित्र ऊँची आवाज में गाते हैं। अतः इससे पवाड़े की उत्पत्ति धर्ममूलक प्रतीत होती है।

महाराष्ट्र में वामन मोरपन्त के समय काव्य-साहित्य में शाहिरी सम्प्रदाय का उदय हुआ। यह 'शाहिरी' अरबी के 'शायरी' का मराठी रूपान्तर है। मराठी के ये शायर (कवि) पण्डित या शास्त्रज्ञ न थे। हिन्दी के सन्त कवियों की भाँति वे भी बहुसंख्या में निम्नवर्गीय जातियों से आये थे। उन्हें जीवन के अनुभव और लोक-भाषा का सहारा था। इन्हीं कवियों द्वारा पवाड़ों का विकास हुआ। प्रारम्भ में पवाड़े धर्ममूलक रहे, पर जब मराठों के हाथ में सत्ता आने लगी और उनका पराक्रम बढ़ने लगा, तब वीरों को उत्साहित करने के लिए वीर-चरित्रों का बखान सुनने और सुनाने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला। इस प्रकार पराक्रम और यशोवृद्धि के सहारे लोक-कवियों के पवाड़ों को महत्त्व प्राप्त होता गया। देवताओं के चरित्र-वर्णन अब मर्त्य वीरों के पराक्रम-वर्णन में क्रमशः परिवर्तित हो गए। धर्ममूलक दृष्टिकोण किंचित् राजनीतिक भी हो गया।

प्राचीन पवाड़े उपलब्ध नहीं हैं। अवश्य ही शिवाजी के समय के दो-तीन पवाड़े मिल जाते हैं। का० ना० केलकर ने 'ऐतिहासिक पोवाड़े' की भूमिका में इस पर प्रकाश डाला है। सन् १६५९ के लगभग रचित अग्निदास के एक पवाड़े से ज्ञात होता है कि उस काल के पहले पवाड़े लोकप्रिय काव्य के विषय बन गए थे। उसने जो 'कड़खा' गाया था ('अफ़ज़लखान भीमरूप ध्याने कड़खा गाजिया') वह वस्तुतः पवाड़ा ही है। उसकी रचना और पूर्णता इस बात को सिद्ध करती है कि किसी चली आती हुई परम्परा

लोक-साहित्य में 'बारह-मासी'

'बारह-मासी' गीतों में प्रायः विप्रलम्भ-शृङ्गार ही अधिक मात्र
है। यही कारण है कि इनमें बुद्धि-तत्त्व की अपेक्षा रागात्मक व्यञ्जना
सम्पूर्ण क्षमताओं सहित प्रकट होती है। 'मैथिली लोकगीत' के व्याख
'बारह-मासा' को 'अनुभूत्यात्मक अभिव्यञ्जना' कहा है। 'बारह-मास
' नैसर्गिक सौन्दर्य के सामने पीट्स के हल्के पैर, गहरे नील रंग की क्वार
सी आँखें, कढ़े हुए बाल, मुलायम पतले हाथ, रक्त कण्ठ और मस्ताई
पर मरेय वाली नायिका भी फीकी पड़ जाती है।'[1] अपने स्वच्छ भावी
सौन्दर्य में बढ़े हुए बारह मासी गीत किसी भी कृत्रिम सौन्दर्य की अपेक्ष
प्रभावशाली सिद्ध होने में पीछे नहीं रहते। संस्कृत और प्राकृत के कवियों
ने 'लोकाभिव्यक्तियों' के सारल्य से नि सन्देह साहित्य को अलंकृत किया
है। विद्यापति और जायसी ने परम्परा या लोकगीतियों से प्रभावित होकर
ही अपने विरह-वर्णन में संजीवनी का संचार किया। इनमें वर्णित भावों
की सौम्यता एवं हृदयहारिता बिना लोक-भावों के माध्यम के सम्पन्न हो
न थी।

लोक-प्रचलित 'बारह-मासे' अथवा बारह मासी गीत आषाढ़ से
आरम्भ होते हैं, यद्यपि इसके लिए कोई शास्त्रीय नियम नहीं है।

[1] रामइकबालसिंह 'राकेश' मैथिली लोकगीत पृ ११

परम्परागत मान्यता-मात्र ही ध्यान देने योग्य है। वैसे एक-दो मास इधर उधर से आरम्भित बारह-मासे भी लोक-साहित्य के भण्डार में उपलब्ध हैं। डॉ० रघुवंश ने बारह-मासे प्रस्तुत करने की तीन प्रमुख रीतियों का उल्लेख किया है—'एक में वर्ष चैत से आरम्भ होता है, दूसरी में आषाढ़ से और तीसरी में अवसर के अनुसार।'[1]

प्रचलित परम्परानुसार बारह-मासो का प्रयोग उद्दीपन विभाव की दृष्टि से ही होता आया है। सेनापति के बारह मासों (जो बसन्त से आरम्भ होते हैं) में यही बात पाई जाती है, पर कहीं-कहीं कवि द्वारा प्रस्तुत स्वतन्त्र चित्रण ऋतुओं के चित्र-महत्त्व में बहुत सहायक होते हैं। बारह-मासों की यह साहित्यिक परम्परा संस्कृत-काव्य के मार्ग से होती हुई समय-समय पर प्रान्तीय भाषाओं के साहित्यों को प्रभावित करती हुई, प्रबन्ध-काव्य के क्षेत्र में आज भी प्रिय विषय बनी है। 'साकेत' का बारह-मासा इस दृष्टि से हिन्दी क्षेत्र का एक उदाहरण है।

इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी का आदि-साहित्य लोक-भाषा की भित्ति से प्रभावित था। अतः बारह-मासी गीतों की परम्परा का लोक-साहित्य से प्रभावित होना असम्भव नहीं प्रतीत होता। अपभ्रंश की अनेक रचनाओं में जो गहरा लोक-साहित्य से प्रभावी पोषित किया गया है, वही आगे चलकर संस्कृत के मुक्तकों को प्रभावित करने में सफल हुआ। अतः इसमें सन्देह नहीं कि आधुनिक बारह-मासी परम्परा लोक-साहित्य की भूमि पर आधारित होकर विकसित हुई है।

बारह-मासी गीतों में प्रत्येक मास का वर्णन क्रम से किया जाता है। हर मास की रूपरेखा संक्षेप में ही आती है, किन्तु इस बात का अवश्य ध्यान रखा जाता है कि जिन उपकरणों से ऋतु-वर्णन की भावना की जाती है वे प्रचलित और अनुभूत हों। विरहिणी उन्हीं को लेकर अपने प्रवासी प्रियतम को स्मरण करती है। इसी प्रकार ऋतुओं पर मानवी भावों का

1 प्रकृति और हिन्दी काव्य पृ० ३०२

पूर्ण आरोप होता है।

नीचे दो मालवी बारह-मासियाँ दी जा रही हैं। प्रथम बारह-मासी सभा-बीसी में गाई जाती है। ऋतुओं के निराले रूप और उसकी पोशाक की भी बारह-मासों (सियों) को गाया जाता है। वर्षा और बसन्त उद्दीपन की दृष्टि से प्रसिद्ध ऋतुएँ हैं। इन्हें लेकर ही मालवी विरहिणियाँ अपना वियोग गा उठती हैं।

राधा की बारह-मासी

सखि लाग्यो असाढ़े मास, प्रभु जब जासना रे
जासना, जासना रे द्वारकानाथ, हरि मन्दर सूनो रे
म्हारा प्रभुजी ने राखना बिलमाय[1] कामणी करिया रे[2]
सखि, एक तो छाती के लागें, दूजी कुबजा रे
सखि लागो सावण मास बिजली चमके रे
भीजी भीजी पड़ रही बून्द सालूड़ा भीजे रे
सखि लागा भादव मास, घटा घनघोर चढ़ी रे
चढ़ी रे चढ़ी रे कुआरी रात हरि मन्दर सूनो रे
सखि लाग्यो कुँवारे मास दशेरो आयो रे
म्हारा प्रभुजी बिना यो कुण दसरो मनावे रे
सखि, लागो कार्तिक मास दिवाली आई रे
सखि, घरे-घरे गोरधन पुजाय[3] हरि मन्दर सूनो रे
सखि लाग्यो अगहण मास, सियालो[4] आयो रे

---

१ मुरलीधर

२ कलीस्नान करके

३ दीपावली के दूसरे दिन स्त्रियाँ गोवर्धन-पूजा करती हैं। यह वही पूजा है जिसका कृष्ण के गोवर्धन पर्वत धारण करने से सम्बन्ध है

४ जाड़ा

म्हारा प्रभुजी बिना यो कुण सोड़[1] पथारे रे
सखि, लाग्यो पोसज मास, चौंगिया फाटी रे
म्हारा किसनजी बिना यो कुण चौंगिया सिवावे[2] रे
सखि लाग्यो म्हावड मास बसन्त रितु आई रे
म्हारा प्रभुजी बिना यो कुण बसन्त रमावे[3] रे
सखि लाग्यो फागण मास होली आई रे
सखि घर-घर फागे खेलाय हरि मन्दर सूनो रे
सखि लाग्यो चैतज मास गणगोर[4] आई रे
सखि घर घर गणगोर पुजावे हरि मन्दर सूनो रे
सखि, लाग्यो बैसाख मास उन्हालो[5] आयो रे
घर-घर पंखा ढोलाय प्रभु मन्दर सूनो रे
सखि लाग्यो जेठज मास प्रभु घर आया रे
आयो आयो सै उनालो रो ओम कळेजा[6] ठूठे रे[7]

प्रस्तुत बारह-मासी में प्रत्येक मास की संक्षिप्त रूपरेखा के साथ त्यौहारों का क्रम भी मिला दिया है, जिससे ऋतुओं का साधारण चित्र प्रस्तुत हो जाता है।

कृष्ण और राधा लोक-कवियों के प्रिय नायक और नायिका हैं। इन्हीं

---

१ बिस्तर
२ सिलाना
३ रमण करे
४ गणगौर-पूजा राजस्थान और मालवा की स्त्रियों का प्रमुख त्यौहार है जिसे 'तीज' के नाम से अथवा गौरी पूजा के नाम से भी पुकारा जाता है
५ गरमी की ऋतु
६ बन्द
७ सौ० हीरादेवी से प्राप्त

के माध्यम से वे अपने जीवन की साधारण असाधारण प्रेम सम्बन्धी अनु-
भूतियों को व्यक्त करते हैं। आलम्बन कृष्ण हैं और उनके विरह में उन
राधा के अतिरिक्त उनके गोपियाँ भी हैं। सूर ने अपने 'भ्रमर-गीत'
कृष्ण के लिए गोपियों को ही रुलाया है। उद्धव का प्रसंग भी एक लोक
गीत में आया है। उसमें गोपियाँ उद्धव का नाम लेकर प्रत्येक मास
अपना दुखड़ा रोती हैं। प० रामचन्द्र शुक्ल ने सच ही कहा है कि सूरदा
में किसी चली आती हुई परम्परा का विकास मालूम होता है। यह निष्कर्ष
संकलित लोकगीतों में वर्णित प्रसंग और परम्परात्मक विषय से और भी
अधिक पुष्ट होता है।

विरह सम्बन्धी बारह-मासी गीत दो प्रकार के होते हैं—(१) जिनमें
आदि से अन्त तक वियोग ही हो, तथा (२) जिनमें अन्तिम मास में संयोग
आता है और विरहिणी को उसके संयोग का अवसर प्राप्त होता है।

ऊपर दी गई बारह-मासी दूसरे प्रकार की है।

नीचे दूसरे प्रकार की बारह-मासी उद्धृत की जा रही है जो अपनी
यात्रा के दौरान में साँवरे निवासी (म० भा०) पीराजी कनफटा बाबा द्वारा
प्राप्त कर लेखक द्वारा लिपिबद्ध की गई है। कनफटा वैष्णव-मार्गी होते हैं
तो कन-छेदी पहनने के कारण कनफटा कहलाते हैं। इनका निर्वाह माँगी
भिक्षावृत्ति और हरिभजन पर होता है। दूसरा बारह-मासी गीत इस
प्रकार चलता है—

> गिरधर असी बात बाबा गोरी आवास गुम्बद में रावरी¹
> रमझम-रमझम मेहरा बरसे कृष्ण चाँद पे लागि म्बरी
> पेहा² मेघा घुमाड़ लागिया लगत हो गई हरियाली
> चोरी³ घूम माड़ करत रही सुन रही अपना मेहा में

---

१ दौड़ी
२ मेघ
३ पपहा
४ पवरी गाय

दूसर[1] मैया सावन अंखियां मेरो मन हो गयो बैरागी
जोग हूँ के भामव-वनिता में ढूँढूँ रमता जोगी
भादों मैया लगो आसजी चमक पड़े मेरो मन हरखे
है चमक पड़े बादल गरजे
दूध कटोरा पियो मन मोहन में दुखिया दुख नहीं सरजूँ[2]
क्वाँर मैया लगो आसजी आस मिली ब्रज का वासी
प्रभु आस मिलो ब्रज का वासी
सखी लाल हिल-मिल पावो भावत मिसरी कीमत जो
कातिक मैया मास मनमोहन गोप घोषे नन्द बाबा
पान पीताम्बर-बाल मैरवा होवन भार हद बाबा
अगहन मैया लगरे आसजी ओढ़ण रसरी नन्द जैसू
साँवरी सूरत पे सुन्दर बिराजे मस्तकी पै मानिक माला
माह मैया लगे आसजी मधुबन में करी बसेरौ
सुनो सखी री मोरे मन की पैसी पड़ी देखी सैं
फागुन राग रच्यो मन मोहन खाल गुलाल भरे झोरी
भर भर मुठिया डारे कृष्ण पै अपर-अम्बर खेलें होरी
चैत पितम्बर मौ मन की जानी भाव प्रभु नहीं सूझे
सुनो सखी री मोरे मन की मन का दर्द न कुछ पोछे
वैसाख मेरो लगो आसजी पीसन पूजन में काशी
दरसन श्री महाराज कृष्णजी जाय चौरासी कट जासी
जेठ मेरो लगो आसजी ऊपर चौंका गगनन की
ऊपर चौंका भारत की
मन असाढ़ा करे आसजी आस मिले ब्रज का वासी
'सूरदास' प्रभु तुम्हरे मिलन की दरसन की अभिलासी
प्रभु चरनों की मैं दासी

---

१ दूसरा
२ [illegible]

माह (माघ) ः हे सखि ऋतु बसन्त आयेले' (मै)
'माघ हे सखि पाला परतु है
बिन पिया आगो ना जाइ है (भो०)

९ फागुन (फाल्गुन) ः 'फगुनी बयार तरुवर पात सबै
झरि जाय' (म०)
'सब रंग बनायल खेलय पिया सग है
फागुन हे सखि होरि खायल' (मै०)
'फागुन सखि फाग खेलतु है
घर घर उड़ेला अबीर है' (भो०)

१० चैत (चैत्र) 'चैत फुले है बन टेसुआ' (म), (तीज)
'चैतहि चैता फुलिय गेल
फूलि गेल सब रंग फूल' (मै)

११ बैसाख (वैशाख) ः 'पवन चलत जब बरसत आग (म०)
बिरह झुलसत मोर गात है
कैसे करो हम अगम घाम (मै)
'बइसाख ए सखि उपम लागे
तन से बहेला नीर' (भो)

१२ जेठ (ज्येष्ठ) ः 'पछवा बरती भो आगमान (म०)
जेठ मास सखि लूक लागे
सर सर बहेला समीर' (भो)
'बिन नाथ अन्न शीतकालिक
पयकि जारत देह मोरे' (मै०)[1]

---

1 म०—मगही मै —मैथिली भो —भोजपुरी और मालवी के लिए प्रयुक्त संकेत हैं

१२

सती प्रथा एवं तत्सम्बन्धी लोकगीत

भारतीय इतिहास के समस्त कालों में सती प्रथा प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से निरन्तर चली रही।

'सती प्रथा' शब्द से यहाँ तात्पर्य स्त्री के उस मृत्यु-उत्सव से है जिसमें वह अपने पति के शव के साथ अग्नि का आरोहण करती है अथवा उसकी मृत्यु होने पर वियोग में किसी भी प्रकार अपने प्राणों को प्रसन्नता पूर्वक त्याग देती है।

यद्यपि ऋग्वैदिक युग में सती प्रथा के प्रमाण नहीं पाए जाते, किन्तु उसके पश्चात् इस प्रथा का चलन अवश्य होने लगा। पति की मृत्यु के बाद 'पैतृकमा' की संज्ञा प्राप्त करने वाली नारी धीरे धीरे अपने अधिकार खोने लगी। अस्त-व्यस्त आर्थिक अवस्था की दयनीयता ने भारतीय नारी को घर की वस्तु-मात्र बना दिया। देश की सामाजिक एवं राजनीतिक दासता अवस्थाजन्य परिस्थितियों ने बाह्य शक्तियों से नारी की सुरक्षा के हेतु उसके प्रति शंकित नर के समस्त विचारों को दृढ़ा दिया। भारत में आने वाली अनेक जातियाँ अपनी कन्याओं का वध किया करती थीं। पूर्व प्रचलित सती-प्रथा इनके सम्पर्क से यहाँ बड़ी तेजी से पनपने लगी। मध्यकालीन युग में उसने जौहर का रूप लिया। भारतीय नारी ने उसे एक उत्सव के रूप में अपनाया। पति की मृत्यु के पश्चात् पत्नी के

अपमान और पतिता होने की सम्भावना का इस प्रकार निराकरण हो गया। सिथियों के आगमन से लगाकर अंग्रेजों के उत्थान-काल तक यह प्रथा नारी के सतत बलिदान की एक लम्बी कहानी बन गई। मृत्यु को हँसते हँसते अपनाने की यह परम्परा अपने आप में एक रहस्यमय इतिहास हो गई, जिसमें शताब्दी वर्षों की जय-पराजय एवं नारी के अजस्र अभि-गुम्फन निहित हैं।

विलियम बैंटिंक द्वारा सन् १८२६ ई० में सती-प्रथा अवैधानिक घोषित किये जाने तथा उसको रोकने के हेतु कठोर नियन्त्रणों के बाद भी गुप्त रूप से यह प्रथा इस देश में चली रही यहाँ तक कि बीसवीं शताब्दी के मध्य तक सती होने की घटनाएँ होती रहीं। अपने वंश को गौरवशाली बनाने अथवा विशेष परिस्थितियों के दबाव में आकर अनेक प्रान्तों में, मुख्य रूप से बंगाल में, कई परिवारों ने अपनी विधवाओं को बलपूर्वक अग्नि में जीवित झोंका है।

सती भारतीय नारी के लिए श्रद्धा और रहस्य का विषय है। भारतीय ग्रामीण समाज में प्रचलित अनेक लोकगीतों में इस रहस्य की हृदयस्पर्शी व्यंजना बड़ी गहराई से व्यक्त हुई है। कई गीतों में अग्नि आरोहण करने वाली विधवा के ससुराल पक्ष के परिजन अत्यन्त प्रसन्न तथा पितृ-पक्ष में माँ-बाप, भाई-बहन आदि ऐसे बिलखते व्यक्त किये गए हैं।

गीतों में निहित सती का बखान लोक प्रकृति के अनुरूप ही मिलता है। ससुराल-पक्ष में सास, ससुर, देवर, जेठ देवरानी, जेठानी, पति और पुत्र-पुत्रियाँ तथा पितृ-पक्ष में माता-पिता और भाई-बहन विशेष रूप में उल्लेखनीय परिजन हैं।

सती चिता का आरोहण करने के पूर्व सोलह शृंगार करती है। माथे पर 'मम्मर', बोरा, बाहुओं में बाजूबन्द, कलाइयों में गजरे, चूड़ा, पैरों में झाँझरिया, नेवर, गले में हँसली तथा तन पर लाल् पहनकर वह तैयार होती है। आभूषणों एवं अन्य शृंगार की वस्तुओं के नाम बोलियों के अनुसार यद्यपि बदल जाते हैं तथापि अन्तर्निहित भावों में कोई परिवर्तन

घटित नहीं होता। मालवी का एक सती-गीत लीजिए जिसमें 'साजन' (प्रियतम) से दूरी पड़ने की व्यथा राग पीलू के स्वरों में समान रूप से मालवा-भर में गाई जाती है।

साजन को डोलो॰---
माथा मे मम्मर घड़ाओ रे सेवग[1] म्हारा
साजन को डोलो चन्दन नीचे ऊभो
चन्दन नीचे ऊभो, चमेली नीचे ऊभो
साजन से बेरो[2] मती पाड़ो रे सेवग म्हारा
साजन का डोलो चन्दन नीचे ऊभो
महूमन[3] मे चुड़लो चिरावो[4] रे सेवग म्हारा
साजन को डोलो॰---
नथिया रतन जड़ाओ रे सेवग म्हारा
साजन को डोलो॰
पगल्या नेवर घड़ाओ रे सेवग म्हारा
साजन को डोलो॰ ---
चूनड़ी मे छापड़ो रंगाओ रे सेवग म्हारा
साजन को डोलो चन्दन नीचे ऊभो---

(हे मेरे परिजन, मेरे माथे के लिए मम्मर घड़ाओ। प्रियतम का डोला चन्दन के वृक्ष के नीचे खड़ा है। वह चन्दन के वृक्ष के नीचे खड़ा है, चमेली के वृक्ष के नीचे खड़ा है। प्रियतम से वियोग न होने दो, मेरे परिजन, प्रियतम का डोला चन्दन के वृक्ष के नीचे खड़ा है। मेरी कलाइयों के लिए सुहागनो, चूड़ा तैयार करो, नथिया में रत्न जड़ाओ, पगल्या एवं नेवर घड़ाओ तथा चादर रँगकर तैयार करो, मेरे परिजन प्रियतम का डोला

१ परिजन
२ वियोग
३ सुहागनें
४ चूड़ा तैयार करो

चन्दन के वृक्ष के नीचे खड़ा है।)

किसी-किसी गीत में आभूषण गढ़ाने की यह प्रार्थना ससुर से भी जाती है। कुछ ऐसे भी गीत उपलब्ध हैं जिनमें स्त्री अपने समस्त वैभव को छोड़कर जाती है। उसका पारिवारिकों से वियोग तो होता ही है, किन्तु सेज-बिछावन, घर-बार आदि सभी सामग्री इस पार्थिव संसार में यहीं-की यहीं रह जाती है। उदाहरणार्थ नीचे का गीत देखिए—

> सखियाँरा डेरा हवामाण में कलपत सैंया[1] विलखाय[2]
> बालक छोड़े चाली पाल को—
> कलपत मेल्या सासू-सुसरा ये म्हारी सखियार
> कलपत मेल्या माय-बाप, हो मोटा का जाया[3]
> बालक छोड़े चाली पाल को—
> हँसता मेल्या सासू-सुसरा रोवता[4] मेल्या माय-बाप
> मोटा का जाया, बालक छोड़े चाली पाल को—
> कलियारी बँसी अम्मरपाश[5] ये म्हारी सखियार
> बालक छोड़े चाली पाल को—
> सजनारी बँसी अम्मरपाश मोटा का जाया
> बालक छोड़े चाली पाल को—
> कलपत मेल्या ऊँचा ओवरा[6] कलपत मेली सूरजपोळ
> मोटा का जाया हो बालक छोड़े चाली पाल को—
> कलपत मेल्या देवर जेठ कलपत मेल्या नाना बाळूड़ा[7]

---

१ विलाप करना
२ अग्नि
३ बड़े की पुत्री
४ रोते हुए
५ अमर-पाश
६ गाँव के घरों के कमरे
७ छोटे बालक

मोड़ा का बाबा बाजा बाजे घोड़ो पग को—
घरे बोड़े चढ़ी है बाग मरोड़ी म्हारी सतियार
कपिपव सेवी हिंगलाज मोटा का बाबा,
बाजा बाजे घोड़ो पग को—

(सती अग्नि-आरोहण करने के लिए प्रस्तुत है। उसने सास-ससुर को ... हुआ और माँ-बाप को रोता हुआ छोड़ दिया है। उसके सावन की 'अमरपास' (अमर-पाश अर्थात् सिराखा) बँध गई। उसने गहने-गाँठे[1] छोड़ दिए, सूतपोत छोड़ दी, तथा देवर-जेठ को भी छोड़कर बड़े की बन्नी ने अग्नि-स्नान करने के लिए घोड़े पर चढ़कर बाग मरोड़ ली।)

'कपिपव सेव्या सास-ससरा ' पंक्ति जहाँ-जहाँ भी सती के गीतों में प्रयुक्त हुई है वहाँ सामाजिक रूप से लोक प्रकृति 'ओलख-ओलखी', माँ-बाप आदि सम्बन्धियों एवं कैसे-कैसे पदार्थों का उल्लेख करने से नहीं चूकती। अभिव्यंजना की यह परम्परागत शब्दावली विशेषतः राजस्थानी गीतों से भरी है। उक्त गीत में 'सूतपोत' का उल्लेख तो स्पष्ट प्रकट करता है कि यह गीत उदयपुर से आता अथवा हुआ मालवा की भूमि में प्रचारित हुआ है। लेखक को मेवाड़ से एक ऐसा गीत मिला है जिसमें मोड़ा, रामा और गोख्या नामक स्त्रियों के सती होने के प्रसंग हैं। 'कपिपव सेव्या —' पंक्ति का प्रयोग उस गीत में भी हुआ है। अतः निश्चय ही सती के गीतों पर राजस्थानी प्रभाव अधिक है।

ग्राम सुन्दरसी (जिला शाजापुर, मध्यप्रदेश) ठिकाने के स्व० ठाकुर की पत्नी रानी गोपालकुँवर चालीस-पचास वर्ष पूर्व सुन्दरसी ही में सती हुई थी। इस घटना का उल्लेख समाधि-स्वरूप स्थापित की गई प्रस्तर शिला के अतिरिक्त गाँव की अपनी स्त्रियों में प्रचलित एक गीत में भी अधिक हृदयस्पर्शी ढंग से प्रस्तुत हुआ है। गीत है—

म्हारी सती माता गाँ से हुक-बाहुर बजाया[1]

---

१ गजरे

म्हारी सती माता कौन सो दियो है सैनाण[1]
को राजा की रानी कमला सूरज पै साखी सत करया
म्हारी सती माता मधारना[2] पै दूध बालक छकाया
म्हारी सती माता सिन्दूरसी में दियो है सैनाण
राजा की रानी भारना सायब[3] पै साखी सत करया, आदि

आगे की पंक्तियाँ "कम्पित सैलया…… " पंक्ति से आरम्भ होकर छूटते हुए सास-ससुर, रोते हुए माँ-बाप, सिंचित होते हुए भाव और इनकी के दूध, बिलखते-तड़पते ओबरा-ओबरी, पश्चात्ताप तथा बचने में रोते हुए बालक को छोड़ने के उल्लेख प्रस्तुत करती हैं।

लिपिबद्ध किये गए उक्त सती के गीत बहुत पुराने हैं। जिन वृद्धाओं से ये गीत प्राप्त किये गए हैं, वे पचास-साठ वर्षों से इन्हें निरन्तर गाती आ रही हैं। एक-दो वृद्धाओं ने अपनी आँखों से सती को चिता पर चढ़ते भी देखा है। समय का सूत्र बढ़ जाने पर अन्धविश्वासी एवं भावुक मस्तिष्कों द्वारा सती के लिए सत-सम्बन्धी अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित की जाती हैं। ऐसी किंवदन्तियाँ घटना के पुरानेपन की वृद्धि के साथ और भी अधिक बढ़ती हैं, जिससे तथ्य की खोज करना आगे चलकर एक समस्या बन जाती है।

---

१ मुकाम
२ रानी के पीहर का स्थान
३ स्वामी, प्रियतम

१३

भारतीय लोकगीतों की नारी

लोकगीतों का सृजन जितना अधिक नारी ने किया है, पुरुष ने नहीं। जीवन के अनेकानेक अवसरों पर स्त्रियों के कोमल कण्ठों ने अपने भावनाओं और मान्यताओं की अभिव्यक्ति गीतों को गाकर ही की है। नारी के जीवन की वेदना, हास्य, व्यंग्य, शृंगार, अभिसार, वात्सल्य, राग-द्वेष, कुढ़न, घृणा आदि सभी गीतों की पंक्तियों में एक-एक कर प्रकट हुए हैं। जितना अधिक नारी का गीतों से सम्पर्क आया उतना ही अधिक उसके जीवन का यथार्थ चित्र गीतों ने प्रस्तुत किया है। भारतीय लोकगीतों ने तो वैसे नारी के जीवन का चित्र प्रस्तुत करके सब-कुछ कह डाला है। नारी ने रीति-रिवाजों, उत्सवों, प्रथाओं और त्यौहारों के विविध को गाया है, उसमें अपनाते ही उसके मानस के विभिन्न भावों को गति मिल गई है। जैसे कविता कवि के मानस को प्रतिबिम्बित करती है वैसे ही लोकगीत समाज के घात-प्रतिघातों का सच्चा रूप व्यक्त करते हैं।

भारतीय नारी के दो चित्र समान मात्रा में लोकगीतों ने प्रस्तुत किए हैं। नारी एक ओर अत्यन्त ही भावना-प्रधान, साध्वी, चतुर गृहिणी, माता-पूज्य सास आज्ञाकारिणी पत्नी, पतिव्रता और योग्य प्रियतमा है तो दूसरी ओर कर्कशा, निन्दक, अत्याचारी सास, फूहड़ पत्नी, जलने वाली ननद तथा अयोग्य पत्नी है। विवाहितों के भी दो चित्र गीतों में मिलते

हैं, किन्तु अधिकांश में विमाताएँ ही क्रुद्ध और अत्याचारी चित्रित की गई हैं। सौत के चित्र भी द्वेषपूर्ण और प्रायः एकांगी हैं। सुखी परिवारों के गीतों में सास यशोदा अथवा कौशल्या जैसी सुलक्षणा एवं शान्त स्वभाव की, ननद लछमी-सी, तथा देवरानियाँ, जेठानियाँ गनगौर के झुमके-सी बताई गई हैं।[1]

बहुओं का जीवन कहीं-कहीं सुखमय है, किन्तु प्रायः अनेक परिवारों में बहुएँ श्रममय जीवन व्यतीत करती हैं। ससुराल में जहाँ जीवन नये सिरे से आरम्भ होता है, उत्साह और उमंगों की अपेक्षा उन्हें सिसुक-सिसुककर जीना पड़ता है। बहुओं ने अनेक गीतों में अपनी माताओं से बड़े ही दुःख-भरे शब्दों में ससुराल की शिकायत की है। वे अपने ससुराल के सुखी जीवन की अपेक्षा पीहर में रहना अधिक पसन्द करती हैं। ससुराल में वे कोल्हू के बैल-सी दिन-भर काम करती हैं और बात-बात पर सास-ननद के ताने सुनती हैं; जेठानियाँ हुक्म चलाया करती हैं और वे चाकरानी की तरह उनकी आज्ञाओं का पालन करती हैं।

सास का लड़ना-झगड़ना तो नित्य का कर्म है। लोकगीतों ने सास का जितना कठोर, कर्कश और रूखा चित्र उपस्थित किया है उतना अन्य का नहीं। राजस्थान में तो कहावत ही हो गई है—'फोग आलोई बळे सासू सीधी ई लड़े' अर्थात् फोग गीला हो तो भी जलता है और सास सीधी हो तो भी लड़ती है।[2] सास अपनी बहू के साथ कितना क्रूर बर्ताव करती है यह निम्न पंक्तियों में देखिए। एक बहन अपने भाई से कह रही है—

---

१ राजस्थान के ग्रामगीत—सूर्यकरण पारीक द्वारा सम्पादित
गीत ८ : 'कौसल्या सी सास मोरी' पृष्ठ १६
गीत ९ : 'सासड़ जसोदा मिली' १७
" : 'लिछमी सी नणदूली' १८
" : 'देराणी-जेठाण्याँ म्हारी
साथ गोरणाँ रो झूमको,' पृष्ठ १८

२ राजस्थान के ग्रामगीत पृष्ठ ११

हमका सिखावौं मैया सबका सिखावौं रे ना।
मैया बधि आवै पियरी रिकरिया रे ना॥
मैया छोड़ु मोंहि नवरी अरपोना रे ना।
मैया छोड़ु मोंहि गोरू चरवहवा रे ना॥
मैया छोड़ु मोंहि हकुरा बिकरिया रे ना।
मैया छोड़ु मोंहि देवरा अरपोना रे ना॥
हमका पोढ़ावौं मैया सबका परिहरावौं रे ना।
मैया बधि आवै चलरी तुगरिया रे ना॥
मैया छाड़ु मोंहि ननदी छोरुमिया रे ना।
मैया छोड़ु मोंहि देवरा अछोरिया रे ना॥
सासु आँची भरि बसना मँगावैं रे ना।
सासु पनिया पताल से भरावैं रे ना॥[1]

सास ने अनेक घरों में बहुओं का जीवन अभिशाप बना रखा है। नीची जातियों के गीतों में सास के अत्याचार तो खुल कर गाये गए हैं। स्त्रियाँ चक्की चलाते हुए अथवा खेत में अन्य काम करते हुए अपने दुखी जीवन की व्यथाएँ गाया करती हैं। बहुओं ने सास ननद, जेठानियों अथवा देवरानियों का जो अध्ययन अपनी बुद्धि और अनुभव से किया है, वह पक्षपातपूर्ण होने पर भी यथार्थ की सीमा से परे नहीं हो पाता है। एक बहू ने अपने परिवार की तीन स्त्रियों के सम्बन्ध में गाया है—

सास

सासु मोरे ए भइया तुरिया बोलरिया रे ना।
भइया मूँहवा में जहर के गोलिया रे ना॥

(हे भाई, सास की तुरिया बोलती है, लेकिन उसके मुँह में जहर

1 जौनपुर जिले के एक गीत की पंक्तियाँ—'हमारा ग्राम-साहित्य', पृष्ठ १११।

की गाँठ है।)[1]

जेठानी

> जेठानी तो ए महुआ कारी बदरिया रे ना।
> महुआ छिन बरसै छिन घाम रे ना॥

(हे माई, जेठानी तो काली घटा है। क्षण-भर में बरसती है, क्षण-भर में घाम हो जाती है।)[2]

देवरानी

> देवरानी महुआ कोने कै बिजुरिया रे ना।
> महुआ छिन निकरै छिन पैठे रे ना॥

(हे माई, देवरानी कोने की बिजली है, कभी बाहर निकलती है, कभी भीतर जा बैठती है।)[3]

ऐसा प्रतीत होता है मानो बहू घरों में मूक पशु की भाँति सब कुछ सहन किये चली जा रही है। कभी सामने बोलती नहीं। कभी कोई अपने गाँव का नाते-रिश्ते का व्यक्ति आ जाता है तो वह वर्षों से रुका हुआ अपना दुखड़ा सुना देती है। यह दुखड़ा वह अपने तक ही रखने के लिए आग्रह करती है। मायके का जहाँ प्रश्न आता है, वहाँ वह अपना दुख प्रकट होने देना अपना अपमान समझती है। वह भाई को अपना दुख सुनाकर उसे अपनी गाँठ में बाँध लेने की सलाह देती है। इसी प्रकार भावज भी ननद से उसी प्रकार दूर रहना चाहती है। जहाँ एक ओर ननद मन की कोमल है, वहाँ दूसरी ओर वह भावज के द्वेष का शिकार भी है। 'सोहर' के गीतों में ननद-भौजाई के ताने हैं और पुत्र-जन्म की आड़ में वह अनेक प्रकार के पिछले राग द्वेषों को तृप्त करना चाहती है। मालवा के एक

---

१ 'हमारा ग्राम-साहित्य', पृष्ठ [illegible]
२ 'हमारा ग्राम-साहित्य' पृष्ठ १२०
३ 'हमारा ग्राम-साहित्य', पृष्ठ १२०

'घुघरी' गीत में भावज भावन को ननद के घर घुघरी न देने की आज्ञा देती है, किन्तु भावन भूख से घुघरी दे चुकी थी। भावज अपने पति से घुघरी वापस लाने की प्रार्थना करती है और बेचारा पति मजबूर होकर बहन के घर आधी रात को घुघरी लेने जाता है। 'मामेरा' अथवा 'भाथा' के गीतों में भावज गहने बेचकर अपना सम्मान रखना चाहती है—

मत जिन जानो ननदी कि भौजी दुखित भईं।
केसरों में नाके के केसरिया पियरिया पहिने मनहोईं ॥

(हे ननद, ऐसा न समझना कि भावज दुख में है। मैं अपने नाक की केसर बेचकर भी पीली साड़ी लेकर आती हूँ।)[1]

हिन्दू परिवारों में बेटी की विदा के गीतों द्वारा हृदय-द्रावक दृश्य उपस्थित हुए हैं। बालकपन से घर में रमी हुई बेटी क्षण-भर में दूसरे की होकर विदा होने लगती है। लड़की का जन्म मानो एक दुख का कारण हो जाता है। यौवन के आते ही वह अपने ही पिता के घर पराई-सी हो जाती है। फिर अपने घर में बड़-नड़ बातें। माँ ने मानो पाल-पोसकर इसीलिए बड़ा किया कि दूसरे के हवाले कर दिया जाय।

मैं हूँ अम्मा तेरी गाय की बछिया
जित मोड़े उत जाय।[2]

गाय की बछिया की यह उपमा तो कहीं-कहीं नारी के सम्पूर्ण जीवन की उपमा बन जाती है। कन्या घर की पाली-पोसी कोयल अथवा चिड़िया होती है, जो बड़ी होने पर उड़ जाती है। वह है 'कुलंग पक्षी की तरह, जिसके भाग्य में भी जन्मभूमि में रहना नहीं बदा।'[3] ब्याह होने पर वर के घर की स्त्रियाँ बहू को ताने देने और उस पर व्यंग्य करने से नहीं चूकतीं। वे हँसी-हँसी में गा देती हैं—

---

1 'हमारा ग्राम-साहित्य' पृष्ठ ११
2 'राजस्थानी ग्रामगीत', पृष्ठ ४
3 'देसां ही में हूँ क्यों परदेसां मेरा वास बे परदेसां मेरा वास

की गाँठ है।)[1]

जेठानी

जेठानी तो ए भइया कारी बदरिया रे ना।
भइया छिन बरसे छिन घाम रे ना॥

(हे भाई, जेठानी तो काली घटा है। क्षण-भर में बरसती है, क्षण-भर में घाम हो जाती है।)[2]

देवरानी

देवरानी भइया कोने के बिलरिया रे ना।
भइया छिन निकसै छिन पैठे रे ना॥

(हे भाई, देवरानी कोने की बिल्ली है कभी बाहर निकलती है, कभी भीतर जा बैठती है।)[3]

ऐसा प्रतीत होता है मानो बहू घरों में मूक पशु की भाँति सब कुछ सहन किये चली जा रही है। कभी सामने बोलती नहीं। कभी कोई अपने गाँव का नाते-रिश्ते का व्यक्ति आ जाता है तो वह वर्षों से दबा हुआ अपना दुखड़ा सुना देती है। वह दुखड़ा वह अपनी तक ही रखने के लिए आग्रह करती है। मायके का जहाँ प्रश्न आता है, वहाँ वह अपना दुख प्रकट होने देना अपना अपमान समझती है। वह भाई को अपना दुख सुनाकर उसे अपनी गाँठ में बाँध लेने की सलाह देती है। इसी प्रकार भावज भी ननद से उसी प्रकार दूर रहना चाहती है। जहाँ एक ओर ननद मन की कोमल है, वहाँ दूसरी ओर वह भावज के द्वेष का शिकार भी है। 'सोहर' के गीतों में ननद-भौजाई के ताने हैं और पुत्र-जन्म की आड़ में वह अनेक प्रकार के पिछले राग द्वेषों को तुष्ट करना चाहती है। मातृत्व के एक

---

१ 'हमारा ग्राम-साहित्य' पृष्ठ १२०

२ 'हमारा ग्राम-साहित्य', पृष्ठ १२०

३. 'हमारा ग्राम-साहित्य', पृष्ठ १२

१ 'घुघरी' गीत में माता भावज को ननद के घर घुघरी न देने की आज्ञा देती है, किन्तु भावज मुख से घुघरी दे चुकी थी। भावज अपने पति से घुघरी वापस लाने की प्रार्थना करती है और बेचारा पति मजबूर होकर बहन के घर आधी रात को घुघरी लेने जाता है। 'मामेरा' अथवा 'भाता' के गीतों में भावज गहने बेचकर अपना सम्मान रखना चाहती है—

मत जिन जाणो नणदी कि भौजी दुखित भई।
बेसली में बाले के केसरिया पिचरिया जैसे पकड़ेहँ॥

(हे ननद, ऐसा न समझना कि भावज दुख में है। मैं अपने नाक की बेसर बेचकर भी पीली साड़ी लेकर आती हूँ।)[१]

हिन्दू परिवारों में बेटी की विदा के गीतों द्वारा हृदय-द्रावक दृश्य उपस्थित हुए हैं। बालपन से घर में पली हुई बेटी क्षण-भर में दूसरे की होकर विदा होने लगती है। लड़की का जन्म मानो एक दुख का कारण हो जाता है। यौवन के आते ही वह अपने ही पिता के घर पराई-सी हो जाती है। फिर क्यों घर में भार-सा बाँधे। माँ ने मानो पाल-पोसकर इसी लिए बड़ा किया कि दूसरे के हवाले कर दिया जाय।

मैं हूँ अम्मा तेरी बाग की चिड़िया
जिस भोरे उड़ जाय।[२]

बाग की चिड़िया की यह उपमा तो कहीं-कहीं नारी के सम्पूर्ण जीवन की उपमा बन जाती है। कन्या घर की पाली-पोसी कोयल अथवा चिड़िया होती है, जो बड़ी होने पर उड़ जाती है। वह है 'कुलंग पक्षी की तरह, जिसके भाग्य में भी जन्मभूमि में रहना नहीं बदा।'[३] ब्याह होने पर घर के घर भी स्त्रियाँ बहू को ताने देने और उस पर व्यंग्य करने से नहीं चूकतीं। वे हँसी-हँसी में गा देती हैं—

१ 'हमारा ग्राम-साहित्य' पृष्ठ ११

२ 'राजस्थानी ग्रामगीत', पृष्ठ ४

३ 'डारों ही मैं कूँजड़ी परदेसाँ मेरा वास वे परदेसाँ मेरा वास'

—पंजाबी गीत

पड़ी कप्पर पड़ी, चौधरी पूछी क्यूँ एतनी पेची

(पिता ने वधू का विवाह इतनी बड़ी करके क्यों किया !) अथवा 'ननदी का जन्म किसी अँधेरी रात में हुआ था !' (अर्थात् वह समझती नहीं है।)[1] साथ ही अन्य गीतों में बहुओं ने सास का मजाक उड़ाने में कसर नहीं रखी। पंजाबी बहुओं ने अपनी अक्खड़तापूर्वक कहा है—

कोठी हेठ पसेरा निकल्ल सस्सड़िए घर मेरा
खा बचा खचेरा दुख रैहदा खूँदा मेरा

(कोठी के नीचे पाँच सेर का बाट है। हे सास, तू बाहर निकल, अब यह घर मेरा है। तू बहुतेरा खा चुकी, अब बचा-खुचा मेरा है।)

भारतीय नारी के जितने भी चित्र लोकगीतों में पाये जाते हैं, वे निस्सन्देह आधुनिक कविता अथवा गद्य द्वारा प्रस्तुत चित्रों की अपेक्षा कहीं अधिक सच्चे हैं। शरत् ने मध्यवर्गीय बंगाली परिवारों की नारियों के चित्रण में सफलता पाई है, किन्तु उनकी लेखनी भी मोहक लोकगीतकारों की गेय पंक्तियों के सीधे-सादे चित्रों के सामने हार मान गई।

भारतीय नारी सदा ही कर्म-व्यस्त रहती है। लोकगीत उसकी व्यस्तता को उभारने में चुप नहीं हैं। ससुराल जाती हुई बेटी को विदा करते हुए माँ अनेक आशीर्वादों के साथ यह भी कहती है—

चूल्हे री आग परींडे रो पाणी कदे न दे सेवरणे दे
पड़ोसणां री सीख न लीजे सासू रो हुकम बजाइजे

(बेटी चूल्हे की आग और पानी—घर का पानी—कभी समाप्त न होने देना। पड़ोसियों की सीख न लेना, सास का हुक्म बजाना।)[2]

शृंगार-पक्ष के गीतों में नारी के भावों की जैसी हृदय-स्पर्शी अभिव्यंजना व्यक्त हुई है, वैसी कम देखने में आती है। नारी का विरह स्थान-स्थान पर हृदय में टीस पैदा करता है। प्रियतम चाहे राजा है और वह रानी, पर वियोग की अवस्था में दोनों दुखी हैं। कहीं कोई पथिक दुखी है, पर

१ पंजाबी गीत, पं० सन्तराम
२ 'राजस्थानी ग्रामगीत', पृष्ठ १२

उसका पति वृद्ध अथवा बालक है। बूढ़ा किसी के भी मन का बवाल है, जो किसी के माथे की टिकुली देख जल उठता है।[१] और किसी का बालम छोटा है, जिसे उँगली पकड़कर पत्नी बाजार ले जाती है और बेचारी जिसके युवा होने के दिन गिन रही है।[२] एक ओर यह दशा है तो दूसरी ओर वियोग से अपने आपको मिटा देने की साध है। देखिए बुलन्द शहर के चमारों के एक गीत की निम्न पंक्तियों में कितना सुन्दर भाव है—

जो मैं ऐसा जानूँ मेरे हरि तज जायेंगे
बत्ती नैनन का सुरमा कर डोरे में लग रहती॥

एक नेपाली वियोगिन अपने मन की बात मन ही-मन में न रख सकी है—

स्वर्ग के भरि नौलाख तारा
म गन्न सक्दी न
पेट को कुरा मुखै मा आइपुग्‍यो
म सहन सक्दी न
(आकाश पर जो लाख तारे भरे हैं, मैं उन्हें गिन नहीं सकती। पेट की बात मुख पर आयी है, मैं उसे सह नहीं सकती।)[३]

इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि लोकगीत की नारी अपनी रूपश्री और भावनाओं में स्वस्थ एवं परिपूर्ण है। दुःख और सुख दोनों की सीमा पर खड़ी हुई वह अपना जीवन व्यतीत करते हुए जिता रही है। उसका अपना स्वाभिमान जितना बढ़ा-चढ़ा है, उतना ही उसका त्याग है। उसके बालिका, युवती, प्रौढ़ा और वृद्धा के विभिन्न रूप अपनी-अपनी सीमाओं में पूर्ण हैं। अन्त में परिचय हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में लोकगीतों की 'एक-एक गृह के शिखर पर दीपशिखा की सी-सी' सुन्दाएँ, सारिकाएँ

---

१ 'बुढ़वा मोरे त्रिपक करनिया, टिकुली देख जरि जाय
२ हमारा ग्राम साहित्य पृष्ठ १६१
३. हमारा ग्राम साहित्य पृष्ठ १६१
४ 'धरती गाती है' देवेन्द्र सत्यार्थी, पृष्ठ १६१

मोती बाई ने चमवा बाम्या
बाबूलो जलकारे जी
कबीर बाबूता म्हारा माई मिरा से केवासे
माई मिरा की सावर रायी
साठी कामल गावे जी (उज्जैन जिले में प्रचलित)

नर्मदा उपत्यका के लोकगीत-साहित्य का विस्तार उल्लेखनीय है। सं
में हम उसे निम्न रूप में विभाजित कर सकते हैं—

प्रबन्ध गीत—कृष्णावतारी कथा, पण्डव कथा, अभिमन्यु क
चन्द्रहास, नरसी मेहता, मंथी पंवार (ध्रुव पंवार), सिलमा, बाबव रा
रामामसाद, पन्ना बाद, नागजी, ग्यारस, आदि।

मुक्तक गीत—भरथरी वैराग, मृत्यु गीत, किसा भाव के गीत, गो
चन्द, बसाह के गीत, कबीरा, तुलसी, कमाल, उमासू, मास-विशेष
सम्बन्धित गीत, छावनियाँ, गरबी, पंवाड़े, नाथियों के गीत, आदि।

स्त्रियों के गीत—होली, गनगौर, रखवाई, जन्म के गीत, विवाह
गीत, माना महाराज, स्तुति गीत, चन्द्रसखी के भजन, मीरा की चुनर गा
गीत, ढूँढ़ा, सास-ननद के गीत, गौना, विदाई, गरबी के गीत, स्नान
गीत, आदि।

बच्चों के गीत—शाला मंगली (मालवा कुरता), गोप्पो, संजा, देर
माता, पटोद्।

प्रबन्ध गीतों में मंथी पंवार धारा नगर का ध्रुव सम्बन्धी वीर का
है। उसका गोठों से युद्ध-वर्णन विषय और अनेक घटनाओं से युक्त उ
प्रबन्ध प्रायः बरसात के दिनों में गाया जाता है जिसकी स्थायी टेक है—

धन रे सुरमा
धन थारी माता बुलारे
राखी को बायो पु भार
क्यों बच देसी माता चोसक चोमदी
भैरव की कालोमाल कपणा विन्दु

'मिसना' गोपालक जातियों का गद्य-गीतात्मक प्रबन्ध है। एक माली को महादेव की कृपा से मिसना नामक पुत्र प्राप्त हुआ था। उसके जन्म लेते ही राजा के नगारे औंधे हो गए। बालक मिसना का जीवन युद्ध से आरम्भ हुआ। वह मालवा तक में राजा मोरध्वज से लड़ा। अन्त में उसकी कन्या से विवाह कर अपने जन्म-स्थान पर लौटा। गवली, मारवाड़, गूजर आदि जातियों में मिसना का प्रचार बहुत है। गूजर 'हीरा' (हीर) भी गाते हैं। 'कान्हा रानी' का प्रचार भी गोप प्रबंधों के साथ निमाड़ में है। धार्मिक प्रबन्धों में 'ब्याहलो' मालवा की तरह समस्त उपत्यका में प्रचलित है।

इसमें सन्देह नहीं कि नर्मदा-उपत्यका के जीवन में लोक-संगीत गहराई से समाया हुआ है। गाने का श्रीगणेश 'चाको माटो लगाने' कहकर किया जाता है। चौपाल अथवा रवाई में मण्डलियाँ जम जाती हैं। 'माटा लगाने' से तात्पर्य मृदंग के एक ओर पोत दुरुस्त करने के लिए आटा 'चोपड़ने' से है। मृदंग के बजने से गीतों का मुखर होना सहज ही सम्भव हो जाता है। मृदंग के अतिरिक्त डफ, मंजीरे और ढोलक का प्रयोग गायक-मंडलियों में किया जाता है। स्त्रियाँ बिना वाद्य के गाती हैं। क्योंकि उनके गीतों का सम्बन्ध रीति रिवाज से अधिक है, इसलिए वे परम्परागत भी अधिक होते हैं। उनमें स्थिरत्व का तत्व होता है।

नर्मदा-उपत्यका के मृत्यु-गीत विशेष उल्लेखनीय हैं। आत्मा-परमात्मा के एकीकरण के भावों से ओतप्रोत मृत्यु-गीत निमाड़ी बोली में 'मसाण्या गीत' कहलाते हैं। मृत शरीर के पास बैठकर गायक-दल दाह-संस्कार समाप्त होने तक इन्हें गाता रहता है। केवल युवा पुरुष अथवा नारी की मृत्यु पर इन्हें नहीं गाया जाता। मृत्यु-गीत वस्तुतः आध्यात्मिक, विरागी और सांसारिक शोक से ऊपर उठाने वाले भावों से समृद्ध हैं। इन्हें मृदंग के साथ सामूहिक रूप से गाया जाता है। उदाहरणार्थ एक मृत्यु-गीत लीजिए—

आयो आयो रे परिमल को
यो सावरिया का आया

आवो आवो रे परिन्दा को

आवो म्हारा साँस की सई होय
अरे अपना म्हायला आवे
अरे कई देवा मन्दिर सिंहासो
आवो आवो रे परिन्दा को

आवो म्हारा साँस की सई होय
अरे अपना आवो गुरु आवा
कई गुरु म्हा कई गुरु कवो
मोतियन मोण पुराओ
आवो आवो रे परिन्दा को

आवो म्हारी साँस की सई होय
अरे आसी बाग लगाई
चंपा चमेली होय मोगरा
अरे आसो बाग लगावो
आवो आवो रे परिन्दा को

आवो म्हारी साँस की सई होय
अरे काली चोली सिवाली
कई रे सीया कई सीवता
अरे देवा अंग लगावो
आवो आवो रे परिन्दा को

मृत्यु-गीतों के ऊपर मध्यकालीन साधना की छाप स्पष्ट है। नाथपंथियों की शब्दावली का प्रयोग इन गीतों में क्रमशः ११वीं शताब्दी के बाद हुआ। कबीर की छाप भी मृत्यु-गीतों में मिल जाती है, जिनमें कबीर के माया-मोह से ऊपर उठे हुए व्यक्तित्व का लोक-जीवन पर प्रभाव

प्रभाव होता है।

उपत्यका में दूसरा प्रभाव सन्त सिंगा का है। सिंगाजी एक गवली के घर पैदा हुए थे। अपने गुरु से वैराग्य की दीक्षा लेकर वे अपनी अनन्य साधना से सिद्ध पुरुष हो गए। कहते हैं सन्त तुलसीदास महेश्वर तहसील के निकट पीपल्या ग्राम में सिंगाजी से मिलने के लिए गये थे। दौलिया और भी सिंगाजी से प्रभावित हुए। सिंगाजी की मृत्यु खण्डवा के निकट हुई। नर्मदा-उपत्यका के कृषकों में सिंगाजी का प्रभाव बहुत है। उनकी स्तुति में गाए जाने वाले गीतों के अतिरिक्त दलू और भम्मा अमर की छाप वाले गीत बहुत गाए जाते हैं। स्वयं सिंगाजी के बनाये हुए गीत भी कहीं-कहीं प्रचलित हैं। उनका एक गीत है—

पैसा नर तू सेवर्या
जिन जग को सिरजई
पड़वा मोसा सब करे
जिन रूप कोई बनाई
जिनका घर का नहीं ठस्सा
वा तू क्यों न सिरजई।
नाम करे सो क्या भये
आतमा कब पावे
फिरता फिरता मरी गया
वा नर बैकुण्ठ पावे
तिरथ करे सो क्या भये
असनान कराने
पै नर जन तू सेवता
वा नगर बसावे।
अगम कोटि एक बना है
मिल साहू मिमारे
[illegible]

जा मर बैकुण्ठ जावे ।

(विरमच ओंकार, बोरखा से प्राप्त)

नर्मदा-उपत्यका के संगीत में भारती, ख्याल गरबी, लावनी और पवाड़ा की धुनें प्रचुरता में उल्लेखनीय हैं । भुजनों के गीत प्रायः प्रासंगिक या बैठकी होते हैं, जो 'पहिमाड़े' से आरम्भ होकर 'दौड़' या 'उड़ान' में आ जाते हैं । 'लावनी' और 'पवाड़े' का प्रभाव महाराष्ट्र से और गरबी का गुजरात से उपत्यका में प्रचारित हुआ है । भजनों में 'मारूड़ी', 'चौपाला' और 'हरप' के भजनों की अलग अलग शैलें हैं । डुंगरी रंगत, बड़ी रंगत, छोटी रंगत, आड़ी और खड़ी रंगतें अलग-अलग लोक-संगीत के गाने की पद्धति को व्यक्त करती हैं । गरबी के भी विभिन्न प्रकार हैं जिन्हें चार पाई, दो पाई, डेढ़ पाई और एक पाई के छन्दों में बाँधा जा सकता है ।

'कलगी-तुर्रे' का उल्लेख करना आवश्यक नहीं, क्योंकि यह बुद्धि परक छन्द कौशल को प्रकट करने का एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें दो दलों की संगीतमय शास्त्रीय टक्करें होती हैं । 'कलगी-तुर्रा' शक्ति के उपासक का दल होता है और 'तुर्रा' शिव के । 'कलगी-तुर्रा' प्रतिस्पर्धात्मक अवस्था में विकसित हुआ वह संगीत है जो राजस्थान और मालवा तक में मिलता है । इसे हमें लोक-संगीत से थोड़ा उठा हुआ मानना चाहिए, क्योंकि झूलनी, अधर एकपदी, तिपाई, चौपाई, भुजंग, अमरसी, झड़, झड़पो, सिन्धी, बहरतबील, लम्बा, छेद, पूरा, आदि छन्द प्रकारों का प्रयोग उसके विकास पर प्रकाश डालता है ।

नर्मदा-उपत्यका की उपज अच्छी है । जमीन न काली है और न भूरी, यद्यपि 'काकड़ी' और 'माळवी' उसके दो प्रकार प्रख्यात हैं । लोगों के पास खेती के औज़ार पुराने ढंग के हैं । उपत्यका के बैल 'होल बाबरे' होते हैं अर्थात् स्वर्ण और काले सफ़ेद रंग की मिलावट वाले । किसान पुरुष सफ़ेद रंग पसन्द करता है । वह कुरता या 'झूला' पहनता है तथा सिर पर लाल या पीली पगड़ी बाँधता है । स्त्रियाँ घाघरा और लुगड़ा पहनती हैं । वक्ष पर काँचली पहनती हैं । कुनबी, मारवाड़, राजपूत, मंडे,

अहीर आदि जातियों की स्त्रियाँ 'फाया' लगाती हैं। उन्हें लाल रंग से विशेष चाव है। उनकी पसन्द, गहने और वस्त्रों का उल्लेख गीतों में बिखरे पड़े हैं।

नर्मदा-उपत्यका मानव-विकास के इतिहास में उल्लेखनीय स्थान है। इसी प्रकार अपने लोक-साहित्य, संगीत और लोक-नृत्यों में भी वह समृद्ध एवं परिपूर्ण है।

१५

मध्य-भारतीय भीलों के विवाह-गीत

मध्य भारत, खानदेश, गुजरात, राजस्थान और मध्यप्रदेश के वनों और पहाड़ों में बसने वाली आदिवासी जातियों में भील एक साहसी और स्वच्छ ढंग की मजबूत कौम है। काला रंग, इकहरा शरीर और फुर्तीली चाल तथा हाथ में धनुष-बाण इनकी विशेषताएँ हैं। इसमें सन्देह नहीं कि यह जाति अत्यन्त प्राचीन है। महाभारत, रामायण, कथासरित्सागर एवं अन्य भारतीय ग्रन्थों में उपलब्ध 'भिल्ल' विषयक उल्लेख इसे अमर ही प्रमाणित करते हैं। यद्यपि कतिपय विद्वानों ने इन्हें शक और सीदियन जाति के मिश्रण से बनी जाति बताया है, पर नवीनतम खोजों से यह धारणा निर्मूल हो चुकी है।

भील जाति कई उपजातियों में विभक्त है। अन्ध-विश्वासों और रूढ़ियों से ग्रस्त होकर भी यह निर्भय, स्वाभिमानिनी और धैर्य-शील है। इनके विषय में विभिन्न विशेषताओं का उल्लेख न करते हुए केवल विवाह एवं विवाह-गीत का ही यहाँ संक्षेप में परिचय दिया जा रहा है।

'बाव' (विवाह)

भीलों में तीन प्रकार के विवाह प्रचलित हैं—

(क) वर-पक्ष के लोग कन्या-पक्ष के यहाँ जाकर विवाह निश्चित करते

। यह साधारण तथा प्रचलित स्वरूप है।

गड़ी

मा) दारिद्र्य के कारण, आर्थिक सामर्थ्य के अभाव में वर-सहित कुछ
क्ति कन्या के यहाँ जाते हैं तथा मामूली रीतियों को सम्पन्न करके उसे
वीन वस्त्र (पोशाक) पहनाकर वर-वधू दोनों को लिवा लाते हैं। इसे
ुगड़ो' प्रथा कहते हैं।

झगड़ो

(इ) तीसरी प्रथा 'झगड़ो देणो' कहलाती है। लड़का यदि लड़की को
भगाकर अपने घर ले जाय तो लड़की वाले 'झगड़ा' खड़ा करते हैं। उस
समय लड़के का पिता लड़की वालों की माँगों को स्वीकार करके 'झगड़ा'
समाप्त करता है। 'झगड़ा' तोड़ने की क्रिया लड़के और लड़की के पिता
एक लकड़ी को दोनों ओर से पकड़कर उसे एक ही झटके में तोड़कर व्यक्त
करते हैं। इससे आपसी झगड़ा समाप्त समझा जाता है।

यदि 'झगड़ा' सुलझने में लड़की को भगाने वाला व्यक्ति तैयार नहीं
होता है तो सामूहिक प्रणाली से लड़के को लड़की का दूध पीने के लिए
मजबूर किया जाता है अर्थात् दूध पीकर वह सिद्ध करे कि जिस लड़की को
वह लाया है माँ के समान है। पर ऐसी स्थिति बहुत कम आती है।
झगड़ा समाप्त करने के लिए जो 'रकम' माँगी जाती है वह 'विक्त'
(दण्ड) कहलाती है। 'विक्त' देने पर भी लग्नपात्र के लिए व्यक्ति को
मजबूर किया जाता है जिससे कि लड़की को किसी अन्य के साथ ब्याहने
पर कौमार्य का प्रमाण बना रहे। झगड़ा तोड़ने की 'रकम' लेकर लड़की
वाला, मध्यस्थ व्यक्तियों को 'मद' (शराब) पिलाता है और उस 'रकम' से
लड़की के लिए आभूषण बनवा देता है।

'सेड़ा-देव' की पूजा

विवाह का आरम्भ 'सेड़ा-देव' (ग्राम के सीमावर्ती देवता) की पूजा से

होता है। यह पूजा साँझ के समय वर और वधू-पक्ष के लोग अपने-अपने स्थानों पर 'मातकर' के हाथों से सम्पन्न करते हैं। पूजा में पका हुआ दलिया, चावल, 'कपसी' (चूड़ियाँ), टीकी, कपास की आँटी तथा सिन्दूर आदि चढ़ाया जाता है। पूजा 'मातकर' जाति का पुरुष ही करता है, स्त्री नहीं। 'मातकर' ही मीणों में निमन्त्रण देने से लगाकर अन्य सभी कार्य करता है, जो साधारण भारतीय समाज में नाई को करना पड़ता है।

मुर्गी की स्वीकृति

निम्नस्तर मीणों के विवाह वाले घरों में मुर्गी खिलाई जाती है। मीणा और भिलाला दोनों का विश्वास है कि मुर्गे अथवा मुर्गी को उनकी स्वीकृति के बिना नहीं काटते। काटने के पूर्व उनके माथे पर पानी की धार डाली जाती है। पानी को हटाने के लिए मुर्गा अथवा मुर्गी स्वाभाविक रूप से अपनी गरदन हिलाते हैं। गरदन का यह स्वभावगत व्यापार ही मीणों के लिए स्वीकृति का संकेत है। उसे 'हाँ' समझकर वे प्रसन्नतापूर्वक 'दराँत' से गरदन पर वार करते हैं।

देवत' (दावत)

विवाह करवाने के लिए इन्हें ब्राह्मणों की आवश्यकता नहीं। 'गिर री' तथा 'देवत' (दावत) से विवाह आरम्भ होता है। उसमें खिचड़ी और शराब की व्यवस्था की जाती है। यों विवाह के पूर्व लड़के और लड़की को किसी हाट-बाजार में एक-दूसरे से पहचनवा दिया जाता है। दोनों ओर से पसन्दगी को अवश्य महत्त्व दिया जाता है। मुहूर्त इनमें कोई भी नहीं निकालता। दोनों पक्ष के लोग जो दिन निश्चित कर लें वही दिन मुहूर्त मान लिया जाता है।

मीणों में एक ही गोत्र में विवाह वर्ज्य है। 'भाना-भाग्य' एक गोत्र में सम्भव है। भिलालों में जो 'चारण्या' गोत्र के होते हैं वे 'मालावा' कहाते । वर-पक्ष के लोग बरात ले जाते समय 'चौंकड़' पर कुम्हार रखकर

नारियल फोड़ते हैं। यदि कोई नदी बीच में आ जाय उसे भी प्रणाम करके नारियल चढ़ाते हैं।

गीत और नृत्य

भील-विवाह में गीत और नृत्य आमन्दोल्लास के विशेष साधन हैं। अधिकांश गीत नृत्य के साथ ही गाये जाते हैं। नृत्य के लिए 'माँदल' (मृदंग) बजाई जाती है, जिसे बजार बजाते हैं। वैसे तो अनेक गीतों में मद पीने का उल्लेख है, पर शराब के अभाव में अपनी थोड़ी और पानी तक के बेचने की सलाह दी जाती है। ब्राह्मण के घर यदि किसी का सम्बन्ध हो जाय तो बड़ा अच्छा समझा जाता है। भीलों के विवाह-गीतों की संख्या अधिक नहीं है। इन गीतों में समग्र जीवन व्यक्त होता है। घर-बार, पारिवारिक सम्बन्ध, एवं रागात्मक वृत्तियों की अभिव्यक्ति गीतों में हुई है। मध्यभारत में बड़वानी के इर्द गिर्द भीलों की बड़ी बस्ती है। खान-देश की ओर के भील अपने गीतों में बड़वानी के बाजार का उल्लेख करते हैं—

> मोटी बड़वानी को चोखो बजार
> गाती बड़ी रतन मतार रँगीला पामड़ा'''

'माँदल' की ध्वनि के साथ सामूहिक नृत्य आरम्भ होते हैं। 'घूघरी' (कमर के रस्से पैरा बाय जो झीमनी से बजता है) और 'थाली' ताल में योग देते हैं। स्त्रियों के नृत्य गीतों से भरे होते हैं। मोली, नेकवाली, पाली, पचकुसम्ब पाली, मोसली, आदि नृत्य गीतों की कड़ियों से बँधे चलते हैं। नृत्य के पद-कथात्मक गीतों की कड़ियों के अनुसार तदनुरूप विस्तार से सम्बन्धित होते हैं। गीतों के स्वरों का विस्तार भी सीमित है, जो एक ही 'टेम्पो' में चलता है। अधिक स्पष्टीकरण के लिए देखिए, एक भील-गीत की धुन निम्न स्वरों में चलती है—

×	•	×	
ग रे ग रे ग	रे सा सा प	रे ग रे सा	ग
पँ व ली ऽ	तु म ड़ी ना	ब ब ला ऽ	पी
×	•	×	•
ग रे सा	म रे सा	सा ध —	ध —
हो ब म्मी	ना च नी	तुम ड़ी ऽ	हो ऽ

नीचे कुछ गीत दिये जा रहे हैं, जो नागपुर (म० प्र०) के आस पास के गाँवों में प्रचलित हैं। भाषा की दृष्टि से इन गीतों की भाषा सरसर पुर (म० प्र०) के आगे कुम्ही-समावर के बारे में बोली जाने वाली वह छत्ती सीढ़ी है जिसे जॉर्ज ग्रियर्सन ने 'सिम्बिरिटक वर्ग' के नाम को मैसे का केन्द्र-स्थल मानकर मान्यता दी है।

गीत

('गिरहरी' के समय कूदने के समय नृत्य के साथ गाया जाने वाला गीत)

सैंयाँ[1] तुमड़ी[2] ना बजवा बीन
हो बम्मी नाच की तुमड़ी—हो ऽऽ
घर लियो बामने सियाल[3] को राम
ही बम्मी नाच की तुमड़ी—हो ऽऽ
पाछे आयो म्हार सियाभार की राम
ही बम्मी नाच की तुमड़ी—हो ऽऽ
बजवा तुमड़ी ना बजवा बीन·····

तुमड़ी का उल्लेख यद्यपि निरर्थक है, किन्तु आदिवासियों के गीतों में से निरर्थक प्रसंग धुनों को सहारा [illegible] हैं।

सखेन्द्र
तुमड़ी
१ दुरभरिका

ब्याह की छोरी[1] ने म्हारी गले
म्हारी परनो मन प
उमी पाल्यो—उमी पोष्यो
उमी डील पेर मोटा मरथार[2]
नखरो मत करा हो—ब्या
एसतो[3] मत करो हो—ब्री
उमी पैयो हमारा चालुड़ा[4] पोष्यो
इम पैयो हो ब्याहन चाई।

× × ×

गूदड़ बछेपो बेटा गलड़े[5] बैसो[6] हो
माय बछेपो बेटा गोदड़े बैसा हा
मौं एक बेटो बापड़ो—पौरे बसी लेवो
बेन्[7] बछेपो बेटा गोदड़े बैसी लेवा।

× × ×

पो म्हारी सह[8] पो मुमस्लो[9] ब्याह
ब्यी हमारी रमी रमी—हा
मुमस्लो छिपाती चीलड़ी[10] —हा

---

१ लड़की
२ प्रियतम
३ मनचल
४ लड़के-वाले
५ गुदड़ी
६ बैठो
७ बहन
८ सहेली
९ मुँह छिपाने वाला
१० चोली

अकाल घरे मैको बीजरी—हो
हमरु पसर[१] आई पाणो—बीजरी हो
आई गई का तला पड़्या[२]
मम्मा अकाल करे मैको—बीजरी हो
सासू का गला पड़्या
सराम गई पाणो—बीजरी हो
को मनके बोमै—बीजरी हो ।

× × ×

नाम्यो[३] गोफण गोळो[४]
डूगरी[५] मार्यो चीरलो[६]
काळा सा बैल बाली ज्वार
उगी—बाजरी ऽ ऽ ।

× × ×

काळो बोलो हो—चार रुँख्या पई[७]
चाँदी[८] काळी है हो राणका—पालरी बोलो
पाणी पड़ै है हो राणका—पारखो बोलो
जमादार को बोलो—ठेकेदार को बोलो
काळो बोलो हो—सापलो बोलो[९] ।

---

१ परान
२ गाड़े बैठ गए
३ फेंका
४ गोला
५ पत्थर
६ चिड़िया
७ रंगे पाव
८ चाम्ही
९ गीत नापतोल-परीक्षण के समय (१९२१) लेखक द्वारा संकलित किये गए हैं

१६

घुमन्तु कजरों के लोकगीत

परिचय

भारतवर्ष में ऐसी अनेक जातियाँ हैं जिनके इतिहास की कड़ियाँ बीते हुए समय की गहराई में कहीं लुप्त हो गई हैं। ऐसी स्थिति में दन्तकथाएँ अथवा परम्परागत मौखिक साहित्य एवं रीति रिवाजों के सहारे उनके विच्छिन्न सम्बन्धों को कहीं-कहीं जोड़कर अनुमानित निष्कर्षों पर पहुँचने के लिए पिछली शताब्दी से ही प्रयास चल रहे हैं। वे जातियाँ, जिनका इतिहास मात्र संदिग्ध है एवं जिनमें कई विचित्र प्रथाओं और प्रवृत्तियों का प्रचलन है, समाज-शास्त्रियों तथा नृतत्वविदों के लिए विशेष अध्ययन की सामग्री बन गई हैं। सुदूर इतिहास के गर्भ में किन्हीं कारणों से जिन जातियों का सम्पर्क अपने स्थान से छूट गया है अथवा जिनकी जीविका के साधन नष्ट हो गए हैं वे क्रमशः अराजकतावादी गिरोहों के रूप में जगह जगह फिरने लगीं। परिस्थितियों में परिवर्तन न होने से उनमें चोरी, डकैती, लूटमार आदि अपराधी प्रवृत्तियों का समावेश हो गया। भारतीय शासन की जाति-सूची में ऐसी जातियों को जरायमपेशा घोषित किया गया।

जरायमपेशा जातियाँ सम्पूर्ण भारतवर्ष में पाई जाती हैं। अकेले मध्य-वर्ती भारत में बंजारे, सांसिये, मोघिये, साँसी, मीना, कंजर, आदि कितनी ही ऐसी जातियाँ हैं जिनका जीवन अपराधमय प्रवृत्तियों से भरा है।

कंजर इनमें सबसे अधिक अपराधी प्रवृत्तियों वाली जाति है जो उत्तर भारत में आज भी स्थान-स्थान पर घूमती पाई जाती है। अपराध कंजरों का मुख्य है। इनकी सबसे बड़ी विशेषता यही है कि स्त्रियाँ मुसलमानियों जैसे वस्त्र पहनती हैं और पुरुष मध्यवर्ती भारतीय ग्रामीणों जैसे। यह जाति वर्षों से घुमन्तू जीवन व्यतीत कर रही है और अब पिछले कुछ वर्षों से गाँवों के पास स्थायी डेरे डालकर बसने का प्रयत्न कर रही है। ऐसे डेरों पर शासन की कड़ी निगाह रहती है। डेरों की बनावट अस्थायी रूप से बसे हुए किसी गाँव से कम नहीं होती।

कंजर राजस्थान, मेवाड़, मध्य प्रदेश आदि भागों में विशेष रूप से मिलते हैं। इसका कारण स्पष्ट रूप से यही है कि इनका सम्बन्ध मेवाड़ राजस्थान से बाहर नहीं है। इनके अनुसार गूजरों के ये मंगत हैं। प्राप्त दन्तकथाओं से प्रकट है कि नवागत गूजरों के मालवा में आने पर उनके साथ ये लोग भी चले आए। यद्यपि इनके गोत्र राजपूतों से मिलते हैं, तथापि इनका धन्धा गूजरों के यहाँ ढोलक बजाकर गाना और शारीरिक करतब दिखाना-मात्र था। इससे यह भी अनुमान लगाया जाता है कि राजपूतों में परम्परा से प्रचलित विवाहविधि के कभी ये शिकार हुए और फिर उन्हीं के रक्त से अपना सम्बन्ध प्रकट करने में ये अपना गौरव समझने लगे। जो हो, आज यह जाति अपराधी है; शारीरिक करतब दिखाना अब केवल नाम-मात्र के लिए इनमें शेष है।

शासन की दृष्टि में आ जाने के पश्चात् इस जाति का शोषण आरम्भ हुआ। यद्यपि शासन ने इसे पिछले कई वर्षों पूर्व बसाने का प्रयत्न किया था, तथापि दोष और तर्क होने के कारण किसी भी भारतीय सरकार ने इस विचार को गम्भीरतापूर्वक कार्यान्वित करने में योग नहीं दिया। ऐसी स्थिति में छोटी रियासतों और ठिकानों ने इसे अपनी-अपनी सीमा में बसने-मात्र की सुविधाएँ दीं जो कि आन्तरिक रूप से इस शर्त पर थीं कि वे अपनी सीमा के बाहर चोरी करें या लूटें, पर जो कुछ हस्तगत करें उसमें कुछ भाग उन्हें भी प्रदान करते रहें। अतः अप्रत्यक्ष रूप से शासन

ने ही इस जाति की अपराधी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित किया।

कंजरों के गीत

कंजरों के गीतों और नृत्यों में वे सभी प्रवृत्तियाँ, प्रथाएँ, विश्वास और संस्कार परिलक्षित होते हैं जिनका जीवन से निकट का सम्बन्ध है। छोटे मोटे थानेदारों और जेलवालों द्वारा उन्हें कैसा कष्ट दिया जाता है, इसका संकेत विवाह के एक गीत में देखिए—

'बिना'

कहाँ चालण्या रे राई[1] बेटा
कलाकसाठी[2] दुपार्या में—कहाँ चालण्या रे
म्हारा दादा का लेख्या कागद म्हार आया रे
म्हारा काका रा लेख्या कागद म्हार आया रे
म्हारा मामा रा लेख्या कागद म्हार आया रे
म्हारा मोटा वीरा रा लेख्या कागद म्हार आया रे
धीरे बोल ए बालक बेमदी[4]—धीरे बोल
सिन्दूरसी को थानेदार मुने कैद देसी रे
सिन्दूरसी का मुन्शी मुने कैद देसी रे
सागवाड़ा को कोतवाल मुने कैद देसी रे
धीरे बोल ए बालक बेमदी—धीरे बोल

(कहाँ चले रे राय बेटे, इस कलाकसाठी दूर (तेज) दुपहरी में कहाँ चले रे! तेरे दादा का लिखा हुआ पत्र आया था, तेरे काका का लिखा हुआ पत्र मुझे आया था, तेरे मामा का लिखा हुआ पत्र मुझे आया था, तेरे बड़े भाई का लिखा हुआ पत्र मुझे आया था। धीरे बोल ए बालक

---

१ राय
२. तेज
३. बड़ा
४ बावरी, दुल्हन

दुलहन धीरे बोल। सुन्दरसी का थानेदार सुनेगा तो दंड लेगा, सुन्दरसी मुन्शी सुनेगा तो दंड लेगा, शाजापुर का कोतवाल सुनेगा तो दंड ले धीरे बोल ए नासमझ दुलहन धीरे बोल।)

यह गीत मध्य भारत के शाजापुर जिले के ग्राम सुन्दरसी से प्र किया गया है। सुन्दरसी में एक थाना है जहाँ प्रतिवर्ष बीस वर्ष से कम उम्र वाले कंजरों को रोक लिया जाता है, जिससे आसपास किसी प्रकार वारदात न होने पाए। प्रातः छः बजे उनको छोड़ दिया जाता है। नि हन के लिए दंड लेने का संकेत कंजरों के जीवन से ही गीत में व्यक्त हुआ है। दूसरा गीत है जिसमें किसी अन्य डेरे का दूल्हा आकर दुल को ब्याह ले जाता है। गीत विवाह के समय गाया जाता है।

'फूला री शोभा'

ये तू तो फूला री शोभा ले गयो रे बना[1]
परण घर जास्यो रे बना
ये तू तो डेरा री शोभा ले जास्यो रे बना
ये तू तो घर की री शोभा ले जास्यो रे बना
परण घर जास्यो रे बना
ये म्हारा मायत[2] तो मनड़ो हरख्यो
ये म्हारा बापजिमारो[3] मनड़ो हरख्यो[4]
ये तू तो टोला री शोभा ले जास्यो रे बना
परण घर जास्यो रे बना

दूल्हे को सम्बोधित करके स्त्रियाँ गाती हैं कि तू फूल की शोभा ले जा रहा है, तू हमारे डेरे की, हमारे घर की शोभा ले जा रहा है। देवी माता

१ दूल्हा
२ माता
३ पिता
४ हर्षित हुआ है।

बना तेरे लिए भी मन हर्षित हुआ है, पर तू हमारी टोली की शोभा ले जा रहा है; तू विवाह करके अपने घर जा रहा है।)

कंजरों के गीतों में दारू (शराब) और बकरे को बड़ा महत्त्व दिया गया है। वास्तविक जीवन में दारू कंजरों का दैनिक पेय ही बन गई है। बकरा-बकरी और मुर्गियाँ तो ये पालते ही हैं। शराब के साथ मांस का सम्बन्ध स्वाभाविक है। अतः बकरा जैसी वस्तु कैसे छूट सकती है। कलाली की दुकान, कलालन (मद बेचने वाली), आदि गीतों के उपादान हैं जो अधिकांश कंजर-गीतों में उपलब्ध हैं। एक दारू सम्बन्धी गीत है—

'दारू'

प्यालड़[1] भर ल्याओ रे बेना म्हारी ग्यासा[2] पीवे
ऊंडी-ऊंडी[3] नाल खोदो रे बेना म्हारा घुड़ला[4] पीवे
झारी-सी भर लाओ[5] रे बेना म्हारी साथण[6] पीवे
म्हारी दुलही[7] पीवे
प्यालड़ भर लाओ रे बेना म्हारी ग्यासा पीवे

(हे दूल्हे, प्याले भर लाओ (दारू के), तेरी प्रियतमा पीने को इच्छुक है। (घोड़ों के लिए) गहरी नालियाँ खुदाओ कि तेरे घोड़े पी सकें। हे दूल्हे, अपनी साथी (दुल्हन) के लिए झारी भर लाओ, वह पीने को इच्छुक है। हे दूल्हे, अपनी प्रियतमा के लिए प्याले भर लाओ।)

एक दूसरे गीत में बालम मन के रूप में स्थान-स्थान पर प्रियतमा द्वारा

---

१ प्याला
२ प्रियतमा
३ गहरी
४ घोड़े
५ लाओ
६ साथी
७ दुल्हन

है। वह अपने मनोनुकूल वस्तु जहाँ भी देखता है वहीं रीझ जाता है। कसारी की दूकान पर हार, मोची की दूकान पर मोचिन, गूजर के यहाँ बछड़ा, सुनार के यहाँ हँसुली (गले का आभूषण), ससुराल में प्रियतमा, पलंग और बनड़ी की चाल, तथा कुम्हार की गलियों में चँवरियाँ देखकर वह रीझा जा रहा है। सम्पूर्ण गीत है—

'बनड़ो'

कसाराँरी गलियाँ बिलम रियो बनड़ो
रीझ गयो म्हाराज रीझ ग्यो बनड़ो
अब तो म्हारी हार पियारी लागे बनड़ा
मोचीड़ा री गलियाँ बिलम रियो बनड़ो
मोचीड़ी देख रीझ ग्यो म्हाराज बना
अब तो म्हारी मोचड़ी पियारी लागे बनड़ा
गुजरा के गलियाँ बिलम ग्यो बनड़ो
बोछड़ो देख रीझ ग्या म्हाराज बना
अब तो म्हारो बोछड़ो पियारो लागे बनड़ा
सुनारा री गलियाँ बिलम ग्यो बनड़ो
हँसुली देखी रीझ ग्यो म्हाराज बना
अब तो म्हारी हँसुली पियारी लागे बनड़ा
सुसराजी गलियाँ बिलम ग्यो बनड़ो
ढोलड़ियो[1] देख रीझ ग्यो बनड़ो
अब तो म्हारो ढोलयो[2] पियारो लागे बनड़ा
कुम्हारा री गलियाँ बिलम ग्यो बनड़ो
चोरियाँ[3] देखी रीझ ग्यो म्हाराज बना

---

१ प्रियतमा
२ पलंग
३ मंडप की चँवरियाँ

अब तो म्हारी चोरी पिचारी जाणो बेगमा।

कंजरों की वैवाहिक प्रथाएँ हिन्दुओं से प्रभावित हैं। विवाह के अवसर पर परिवार के स्थान पर दूल्हे की बुआ ही हस्तमिलाप कराती है। काजल सारती है; दूल्हा तारण मारता है। उसी समय का एक गीत है जो दुलहन पक्ष की ओर से गाया जाता है—

'तारण'

केरवो[1] ताण रे गुमानिरा[2] केरवो ताण रे
म्हारी बाजूबन्द बूँदवा[3] पर कड़ी मेलो मणियो[4]
बीजली का भबके[5] म लग जावगा रे
केरवो ताण रे गुमानिरा

(हे गुमान भरे, केहरिया-तान दे। मेरे लिए घुंघरू वाले बाजूबन्द और मणिखचित कड़ी प्रदान कर। बिजली की चमक से मुझे लाग लगने का डर है; केहरिया तान दे।)

कंजरों के अनेक गीतों में प्रथाओं का वर्णन तो है ही, पर ऐसे कम स्वतन्त्र गीत हैं जिनमें उनके आवास, धन रूप और इतिहास की सामग्री तथा शोषकों के विरुद्ध घृणा की अभिव्यक्ति निहित है। पुरखों का उल्लेख अनेक गीतों में है। नगरकोट एवं 'मोका' और उसकी मस्ती का वर्णन कई गीतों में मिलता है। कंजरों के लूट-माल 'हीरा' की कमाईं सहज ही इन गीतों से स्पष्ट जाती हैं। 'सिमोती' कंजरों की देवी मालिका है जिसके पाये से अपने को बताने में वे गौरव अनुभव करते हैं। [illegible] के राजा ने उसके साथ धोखा किया और वह मार डाली गई। गीतों में

१ केहरिया
२ गुमान भरे
३ घुँघरू वाला बाजू का आभूषण
४ मणियों से जड़ित कड़ी
५ भभक, चमक

सिंघोरी की याद इसी घटना के साथ सम्बन्धित है। कवार मल्लराय के राजा के हाथ से दान लेना उत्तम नहीं समझते। उनके लिए बगड़ावत पुत्रों के हाथ का दान ही यथेष्ट है। सिंघोरी के एक बड़े गीत में यह प्रकरण भी बड़े दर्द के साथ गाया जाता है—

मी क्यों म्हारा हाथ को दान राजा
ये लेस्यों रे चोबीस बगड़ावत म्हारा हाथ को दान—

१७

'बालाघाट'

भारत के विभिन्न स्थानों के लोक-विश्वासों की पृष्ठभूमि में मानव के प्रसूत कल्पना और सामूहिक अनुभूति के सामान्य तत्त्व निहित हैं। लोक-गीतों में प्राप्त भावों की लोकप्रिय धुनों के सहारे जो अभिव्यक्ति परम्परात्मक रूप में आज भी चली आ रही है, उसमें भले ही अनुपम सत्य (कहीं-कहीं) हो, पर वह एकान्त असत्य नहीं है।

अनेक भारतीय लोकगीत रीति-रिवाजों, धार्मिक अनुष्ठानों, मेले-ठेलों, व्रत त्योहारों एवं अन्य प्रथाओं के साथ जुड़े हैं तथा उन्हीं के क्रिया-व्यापारों के साथ गाये जाते हैं। यद्यपि इस प्रकार के गीतों में अवश्य ही रूप-सम्बन्धी परिवर्तन का होना स्वाभाविक है, तथापि उनके मूल संगीत एवं मूल भावों में विश्वास के स्थायी तत्त्व नष्ट नहीं हो पाते। इस दृष्टि से गीतों का मेल-जोल एवं उनकी अभिव्यक्ति-शैली लोकगाथा-साहित्य में विशेष महत्त्व रखते हैं।

भारतीय लोकगीत हिन्दी लोक-वार्ता-साहित्य के उपयोगी रत्न हैं। इनमें निहित विशाल संदेश, उपादान, देश-कालगत बन्धन और किसी युग की संस्कृति का चित्र सभी जातिगत मनोभावों के अध्ययन में सहायक सिद्ध होते हैं। 'बालाघाट' (बालाघाटू) नामक मालवी-गीत इसी उद्देश्य से आगामी पंक्तियों में प्रस्तुत किया जा रहा है।

'बालानऊ' का गीत मालवा में मुख्य रूप से मध्यभारत के शाजापुर, देवास और उज्जैन जिले के गाँवों में गाया जाता है। आषाढ़ में वर्षा होने में विलम्ब होता देख स्त्रियाँ इसे मध्य-रात्रि के पूर्व एकत्र होकर कलश-रख में गाती हैं। गीत के सम्बन्ध में यह विश्वास है कि उसके गाने पर शीघ्र ही वर्षा आरम्भ हो जाती है। इस विश्वास के पीछे ऐतिहासिक रूप से एक लम्बी घटना का उल्लेख किया जाता है। शाजापुर जिले के ग्राम सुन्दरसी के निकट एक तालाब है जिसे 'बालामाता' का तालाब अथवा 'बालोस्या' (ग्राम का नाम) का तालाब कहते हैं। कहा जाता है कि जब यह तालाब खुदवाया गया तो उसमें जल नहीं आया। वह सूखा ही रहा। एक ब्राह्मण-पुत्र के कथन पर उसमें एक बेटे-बहू की बलि दी गई और आश्चर्य की बात है कि उसके बाद ही उसमें जल हिलोरें लेने लगा।

इसके साथ ही हमें एक गीत की जानकारी और मिली है। मध्यभारत के निमाड़ जिले के सेगाँव तहसील में बरगुल पिरखा नामक ग्राम है। वहाँ १.७ मील के घेरे में पानी से भरा हुआ एक तालाब है। इस तालाब के निर्माण की कहानी 'बालानऊ' की कहानी से काफी मिलती है। निमाड़ में प्रचलित 'कुलवन्ती बहू' का गीत प्रायः स्त्रियाँ गाया करती हैं।

कहते हैं पिरखा ग्राम के निकट पानी का प्रायः अभाव रहा करता था। जहाँ तालाब है वहाँ किसी समय एक बावड़ी थी जिसमें बहुत कम पानी रहता था। चूँकि आसपास के ग्रामों में पानी का प्रबन्ध नहीं था इसलिए ये लोग सिमटकर उस बावड़ी पर एकत्र हो जाया करते थे। भीड़-भाड़ और जल की कमी से जो झगड़े पनघट पर हुआ करते हैं, वैसे ही झगड़े वहाँ भी होते रहते थे। एक दिन गाँव का पटेल ऐसे ही दृश्य को देखकर बड़ा चिन्तित हुआ। उसने उसी रात स्वप्न देखा कि देवी कह रही है कि यदि वह अपने पुत्र और पुत्रवधू को बावड़ी में समा दे तो जल का कष्ट दूर हो जायगा। प्रातःकाल पटेल ने यह बात अपने बेटे-बहू से कही। दोनों तत्काल तैयार हो गए और पूजा-पाठ करने के पश्चात् बावड़ी में उतर गए। उनके समाते ही चारों ओर जल-ही-जल हो गया। इस प्रकार बावड़ी

एक बड़ा तालाब बन गया। इस कथा में अन्तिम बात यह भी कही गई है कि बहू के प्रताप से परोक्ष प्रतिदिन तालाब के किनारे जाकर भोजन माँगता तो जल की सतह पर दो चूड़ियों वाले हाथ भोजन की थाली लेकर प्रगट हो जाया करते थे।

यह अवश्य ही किसी बलि की कहानी का सुधरा रूप है।

प्राचीन जातियों में कथा के लिए जिन आयोजनों का वर्णन हमें प्राप्त है उनमें बलि का विशेष महत्त्व है। ग्रामीण सभ्यता में यह प्रवृत्ति एक अव-शिष्ट की भाँति विद्यमान है। 'बालावऊ' के गीत में बलि की यह कहानी अवश्य किसी घटना से सम्बद्ध हो गई है। इसका कारण है कि कुएँ, बावड़ी आदि से बलि का सम्बन्ध भारतीय लोक-वार्ता का एक अंग रहा है। [illegible] की इच्छा उसे आज तक छिपाये हुए है। लेख में प्रस्तुत 'बालावऊ' [illegible] की कथा संक्षेप में इस प्रकार है—

मालवा में राजा घोर[1] थे। उनकी रानी घोरमी महारानी थी।

---

[1] मालवी में कुएँ के समीप खेत में पानी देने के लिए बनाई जाने वाली मिट्टी की खोर को भी 'घोर' कहते हैं। कथा से सम्बन्धित होने के नाते 'घोर' नाम स्वाभाविक प्रतीत होता है। 'घोर' एक जाति भी है जो मजदूरी करती है। [illegible] घोर राजा का कोई उल्लेख मालवा के इतिहास में नहीं मिलता। गुजरात में जसमा ओडन की एक कथा प्रचलित है जिसे ११वीं शताब्दी के गुजरात के राजा सिद्धराज ने उसके रूप की चर्चा सुनकर अपने राज्य में तालाब खुदवाने के लिए आमन्त्रित किया था। सिद्धराज ने उसे भ्रष्ट करने के लिए अनेक प्रयत्न किए, पर जसमा अपने सत से डिगी नहीं। सम्भवतः जसमा ओडन और उसके द्वारा तालाब खुदवाने की कथा का प्रस्तुत तालाब के प्रसंग से सम्बन्ध हो जाकर 'राजा घोर' का यहाँ काल्पनिक अवतरण हो गया है। मालवा में परिगणित जातियों का आगमन गुजरात की ओर से ही हुआ है अतः गुजराती लोकगाथा का मालवा और निमाड़ में प्रचलित होना

एक समय ओड़ ओड़नी पाटोला ग्राम की ओर आए। रानी ने कुएँ-बावड़ी खुदवाए और राजा ने एक तालाब। रानी के कुएँ-बावड़ी जल से भर गए, पर तालाब में जल नहीं आया। ब्राह्मण का पुत्र बुलाया गया। उसने अपने पोथी-पत्र में देखकर कहा, "राजा, यहाँ तो कहा नहीं जाता, नहीं कहूँ तो रहा नहीं जाता, सरोवर आपके बड़े बेटे बहू का भोग माँगता है।"

राजा की आँखों में अचानक नीर आ गया। जाकर उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र हंसकु वर से यह बात कही। पुत्र के कहने पर वह अपनी बहू के पीहर गये। वालावहू ने जल गरम करवाया और उत्तम भोजन तैयार किया। राजा ने उन्हें स्वीकार न करते हुए तालाब के भोग की बात बताई। वालावहू तैयार होकर ससुराल आई। गाँव में बुलावा दिया गया। चौक पुराया, आभूषण और कसीदे वस्त्रादि धारण कर दोनों ने शृंगार किया। इस प्रकार तैयार होकर दोनों सरोवर पर आए।

वालावहू-हंसकु वर ज्यों-ज्यों सरोवर की एक-एक पैड़ी पर पैर रखते त्यों-त्यों उसमें जल बढ़ता जाता। जल वालावहू के केश छूने लगा। सातवीं ड़ी पर चरण रखते ही जल वालावहू की वेणी तक आ गया। उसने हा—"ससुरजी, इस ओर मुँह फेरो, सरोवर हिलोरें ले रहा है।"

आँखों में नीर भरकर ससुर ओड़ ने कहा—"मेरी वालावहू, जल म्हारे मुखड़े तक आ गया, अपने हाथ समेटो।"

आशीर्वाद देते हुए वालावहू हंसकु वर जल में समा गए।

ीत निम्नलिखित है—

ाजापत

राजा गाँव[1] से आया दोई ओड़-ओड़नी
एक थी अमरा से आया ओड़नी

कोई आश्चर्य का विषय नहीं है। (जसमा-ओड़-सम्बन्धी गीत गुजरात विद्या सभा अहमदाबाद द्वारा प्रकाशित रासमाला में देखिए।)

१ कहाँ पलना था

राजा माळया से भाया सी चोक
कौंय उतरा राजा चोड़ये
राजा कौंय उतरा रानी चोड़मी
थेकाँ[1] उतरा राजा चोड़ये
राजा कचैरयाँ[2] उतरा रानी भावजी
कौंय जिमाड़ा राजा चोड़ने
राजा कौंय जिमाड़ा रानी चोड़मी
खिचड़ी जिमाड़ा राजा चोड़ने
राजा लापसी[3] जिमाड़ा रानी चोड़मी
सीरा[4] चोड़स्या पूया-भावजी
राजा समरा पँथाया[5] समन्द् तलाव
पूरा के कावड़ी राजा उगली[6] सूरा
राजा सुकल पड़यो समन्द् तलाव
टेरो-टेरो[7] मैं बामण को डावरो[11]

---

१ महल
२ कचहरी
३ भोजन कराएँ
४ एक प्रकार का खास पकवान
५ रानी भावजी के लिए प्रयुक्त (राजस्थानी-भावजी का आदर-सूचक प्रयोग)
६ गुदगुदा
७ समुद्र के समान तालाब
८ उगल रहे हैं
९ सूरा
१० पुकारो
११ पुत्र

रूखाँ[1] सरवर को मोरच दीखायो
पोथी बाँचे तो बामण मायो फेरे
राजा कहूँ तो कह्यो नी जाय
राजा नैणाँ में आया छलकण नीर
को तो साँची रे कहूँ दो बामण
कहूँ तो साँची राजा, कह्यो नी जाय
राजा बड़ा बेटा-बहू को माँगे सरवर भोग
हूँ[2] तवे पूछूँ म्हारा हलकु वर बेटा
सरवर माँगे हमारो भोग रे
हूँ था भी बाप म्हारा भी छा[3]
जैसा हमारा बालापण मैं कईक पूछो
बोला बोला भी ससराजी बीच कस्या
राजा तूम तो उभे बालापण का देस
ताता[4] रे पाणी बालापण मेलियो
ससराजी होई हमारी न्हावारी वेल
ठण्डा[5] मे भोजन ससराजी ठंडा हुआ
ससराजी होई हमारी जीमवारी वेल[6]
हूँ तो भी न्हाऊँ म्हारी बालापण
बालापण कहूँ तो कह्यो नी जाय
हूँ भी जीमूँ म्हारी बालापण
बालापण, कहूँ तो कह यो नी जाय

---

1 वृक्ष
2 मैं
3 यहाँ पिता के अर्थ में प्रयोग
4 गरम
5 ताता, गरम
6 भोजन का समय

के तो सारी भो राजा कर दीजो
मसराजी कोगत साई करूयो समौतो
कौण्या[1] तो सारी भो बाबाबड़
बाबाबड़ सरवर मौंगे हमारो भोग
हूँ या भी लाएँ म्हारा ससराजी
ससराजी हमारा बेटा से साथ पूछो
भागे ससराजी पाछे बाबाबड़
राजा, तुम तो बने सासरे देस

× × ×

मसराजी बैठो-बैठो माथी री भूल
राजा बाली में बैठो देवातो
ससराजी बाबा[2] कमायाडी मेवो जी
ससराजी बाबाबड़ हंसकु वर म्हारिया जी[3]
ससराजी हेरो[4] बगण्या[5] कारया
समराजी बाबाबड़का हसकु वर परतवोजी
समराजी बाबा[6] री गमो[7] मगाद जो
समराजी बाबाबड़ हंसकु वर पेरावलोजी
ससराजी कु वारी केरी[8] का गावर मंगाद जा

---

१ कहूँगा
२ हुआ
३ स्नान कराया
४ दिखाओ
५ सम्मुख
६ हिरण
७ पहले
८ गाय की बछड़ी

ससराजी धक[1] दई चाँगयो बिछाय जो
ससराजी, गऊ-भैंस्या को चौक पुराओ
ससराजी, ऊपर बाजोट्यों[2] बिछाय जो
ससराजी बाबाजक हंसड़ पर बैठाय जो

× × ×

आगे-आगे हंसड़ पर चाले बाबाजक
राजा, पीछे चाले नगरी का लोग
राजा, धई कना[3] सरवर पाज
पैली पैड़ी जो हंसड़ पर बाबाजक पगधरया
राजा, अँगूठा पे आयो जो नीर
तीसरी पैड़ी जो बाबाजक हंसड़ पर पगधर या
राजा गोड़ा पे आयो जो नीर
चासमी पैड़ी जो बाबाजक हंसड़ पर पगधर्या
राजा, कम्मर पे आयो नीर
पाँचमी पैड़ी जो बाबाजक हंसड़ पर पगधर्या
राजा छाती पै आयो जो नीर
छट्टमी पैड़ी जो बाबाजक हंसड़ पर पगधर या
राजा काँधा[4] पै आयो जो नीर
सातमी पैड़ी जो बाबाजक हंसड़ पर पगधर्या
राजा चोटी[5] पै आयो जो नीर
पीठ फेरी है ससराजी, कँई हाल जोवी

---

1 पोतकर
2 आसन
3 आ खड़े हुए
4 कन्धा
5 चोटी

पाणी भरी को ससराजी देस को
ससराजी सरवर हमारो हिलोया को थाम
हाथ मलेको[1] म्हारी बालाबऊ
बालाबऊ, जुबका[2] से आगो को नीर
आगो पीजो को ससराजी राज करजो
ससराजो जीमजो बाल करोब।

'बालाबऊ' गीत का सृजन सम्भवतः बालाण्य ग्राम अथवा उसके निकट कहीं ग्रामों में हुआ है। मुन्दरसी ग्राम भी इसकी उत्पत्ति का क्षेत्र हो सकता है, क्योंकि यहाँ बालोण्य की अवस्था आज भी उत्साह गीत बोलने वाली स्त्रियों की पीढ़ी मौजूद है। बालाण्य का तालाब आसपास के ग्रामवासियों की दृष्टि में महत्त्वपूर्ण स्थान है जिसकी ग्राम-मनौतियाँ की जाती हैं। विश्वास प्रचलित है कि यदि बालक वाली स्त्री को दूध नहीं उतरता हो तो उस तालाब के जल में उस स्त्री की चोली धोकर पहनाने और उसका पानी पिलाने से दूध उतरने लगता है। बच्चे की आयु भी उससे बीघेगी रहती है।

बालोण्य का तालाब कब बना, इस बात की जानकारी अज्ञात है, पर परम्परा से चले आते हुए विश्वास को पकड़े यह अपना महत्त्व आज तक बनाये हुए है। निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि तालाब कितना पुराना है। गीत की भाषा निश्चित ही पुरानी मालूम होती है। उसके कतिपय प्रयोग, शब्द-योजना तथा की ओ ०० और ऐ ०० की दूर तक जाती हुई इसकी धुन इस बात को प्रकट करते हैं कि उसका निर्माण तीन सौ वर्ष पूर्व के आसपास हुआ है।

---
१ समेटो
२ चूरा

१८

क्रम-सम्बद्ध लोक-कथा

सर रिचार्ड टेम्पल ने एम० हिस्लप के लेखों का, जो मध्यभारत की आदिम जातियों के विषय में लिखे गए थे, सम्पादन करते समय (१८६६ ई०) उनमें चार एक लोक-कथा का विद्वत्तापूर्वक विश्लेषण करके भारतवर्ष में जो परम्परा आरम्भ की वह क्रमशः बढ़ती गई। फ्रेयर के 'ओल्ड डेक्कन डेज' के प्रकाशन के पश्चात् इस ओर गति से कार्य किया जाने लगा। 'इण्डियन एण्टीक्वेरी' में डमेण्ट ने निरन्तर बंगाल की लोक-कथाओं को प्रकाशित किया। लालबिहारी डे, क्रुक, कैम्पबेल, नोलीस, आर० इन्वर्ड, श्रीमती ड्रेकौट, सी० एच० बोम्पस, एम० फ्राअर, शोभना देवी, वैरियर आदि विद्वानों ने भी कुछ-कुछ काम इस दिशा में किया है। किन्तु इन सब विद्वानों के ग्रन्थों में इस बात का प्रमुख दोष निकाला जाता है कि सभी ने उनमें संगृहीत अधिकांश कथाओं को अपनी सुविधानुसार हेर-फेर किया। उन्हें यहाँ की भाषा का यथोचित ज्ञान न होने से और फिर उस सामग्री को अपनी भाषा में अनूदित करने के प्रयास-स्वरूप उन कथाओं में स्वाभाविकता और मूल प्रेरक-शक्ति का प्रायः अभाव हो गया है। वैरियर एल्विन, जिन्होंने अपनी पुस्तक 'फोक टेल्स ऑफ महाकोशल' में बोम्पस और मिल्स का आदर्श रखा है, इस बात को स्वीकार करते हैं कि उनके पूर्ववर्ती लेखकों और संग्रहकारों ने ऐसी अनेक भूलें की हैं। उन्होंने एक

प्रमुख दोष यह भी बताया कि वर्तमान काल में अध्ययन और अन्वेषण की प्रवृत्ति इस कदर बढ़ती जा रही है कि डर है कहीं लोक-कथाओं के मूल में निहित आकर्षण के उपादान नष्ट न हो जायें।

हिन्दी में लोकगीतों के तो कई संग्रह प्रकाशित हुए हैं, पर लोक-कथाओं के संग्रह नाम-मात्र के लिए दो-तीन ही हैं। विशेष रूप से डॉ॰ सत्येन्द्र और शिवसहाय चतुर्वेदी के संग्रह क्रमशः 'ब्रज की लोक-कहानियाँ' और 'बुन्देलखण्ड की लोक-कहानियाँ' या 'पाषाण नगरी' उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार के अनेक संग्रहों की आवश्यकता है क्योंकि लोक-कथाओं का क्षेत्र बड़े सागर की तरह है।

भारतीय लोक-कथाओं का तो अपना विशेष महत्त्व है। उनकी प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में यह बात प्रसिद्ध है कि उनके प्रमुख तत्त्वों की पुनरावृत्ति प्रायः अन्य कथाओं में होती रहती है। वास्तव में यह एक सचाई है। पंजाब, बंगाल, बिहार, राजस्थान, महाराष्ट्र, मेवाड़ अथवा मालवा आदि स्थानों में पाए जाने वाली लोक-कथाओं में अनेक कथाएँ एक-दूसरे से वस्तु, पात्र, चित्रण और शैली में साम्य रखती हैं।

यह बात ध्यान देने की है कि दूर-दूर तक जातियों के फैलने, मिलने और सम्पर्क स्थापित करने से कथाएँ एक स्थान पर नहीं रह सकीं। उन्होंने भी यात्राएँ कीं, अनेक पड़ाव और प्रभुत्व स्थापित किये हैं। इस प्रकार जब जातक-कथाओं, प्राचीन देशों के आख्यान तथा कथासरित्सागर, 'वैतालपंचविंशति', 'हितोपदेश' आदि ग्रन्थों में प्राप्त कहानियों के मिलते-जुलते रूप लोक-कथाओं में मिल जाते हैं तो यह धारणा और भी पुष्ट होती है। संस्कृतियों का अन्तरावलम्बन लोक-कथाओं में स्पष्ट झलकता है। यहाँ तक कि पश्चिम के कथनानुसार ये कथाएँ केवल इस देश तक ही सीमित नहीं हैं। बौद्ध मतावलम्बियों के साथ वे मध्य एवं पूर्वी एशिया तक में पहुँची हैं। अतः जिसे हम भारतीय-कथा-साहित्य कहते हैं वह वास्तव में परिवार कथा-साहित्य—तिब्बती, मंगोली, सुदूर भारतीय और चीनी—साहित्य है।

काम-सघूरू

सर रिचर्ड टेम्पल ने एस० हिस्लप के लेखों का, जो मध्य
जातियों के विषय में लिखे गए थे, सम्पादन करते समय
नमें आई एक लोक-कथा का विद्वत्तापूर्ण विश्लेषण करके
रम्परा आरम्भ की वह क्रमशः बढ़ती गई। फ्रेजर के
ख' के प्रकाशन के पश्चात् इस ओर गति से कार्य कि
(यिडयन एन्टीक्वेरी' में क्रमेक्र ने निरन्तर बंगाल की
काशित किया। लालबिहारी दे, कुक, कैम्पबेल, गोस्टीव
ीम्वी इवेन्स, सी० एच बोम्पस, एम कुलक, या
ादि विद्वानों ने भी बहुत-कुछ काम इस दिशा में किया
न विद्वानों के ग्रन्थों में इस बात का प्रमुख दोष निकलता
उनमें संगृहीत अधिकांश कथाओं को अपनी सुविधा
ला। उन्हें यहाँ की भाषा का यथोचित ज्ञान न होने
ामग्री को अपनी भाषा में अनूदित करने के प्रयास-स्वरूप
ामाणिकता और मूल प्रवाह-शक्ति का प्रायः अभाव हो ग
विन, जिन्होंने अपनी पुस्तक 'फोक टेल्स ऑफ महाको
रे मित्र का आदर्श रखा है, इस बात को स्वीकार
सियों लेखकों और संग्रहकर्ताओं ने ऐसी अनेक मू... की है

ने म्हारो कँई बिगाड़यो जो उके मारूँ ?"

परेवा सुतार के के नी—"
काग मोती दे नी
चिड़ी रोती रेमी।

चिड़ी गई राजा का पास। "राजा-राजा, परेवा के मार।" "परेवा ने म्हारो कँई बिगाड़यो जो उके मारूँ ?"

राजा परेवा के मारे नी
काग मोती दे नी
चिड़ी रोती रेमी।

चिड़ी गई रानी का पास। "रानी-रानी, राजा से रूस।" "राजा ने म्हारो कँई बिगाड़यो जो रूसूँ ?"

रानी राजा से रूसे नी
काग मोती दे नी,
चिड़ी रोती रेमी।

चिड़ी गई ऊंदरा[1] का पास। "ऊंदरा-ऊंदरा, रानी का कपड़ा काट।" "रानी ने म्हारो कँई बिगाड़यो जो हूँ कपड़ा काटूँ ?"

ऊंदरा कपड़ा काटे नी
काग मोती दे नी,
चिड़ी रोती रेमी।

चिड़ी गई बिलाई[2] का पास। "बिलाई बिलाई, ऊंदरा के मार।" "ऊंदरा ने म्हारो कँई बिगाड़यो जो हूँ मारूँ ?"

बिलाई ऊंदरा के मारे नी—"
काग मोती दे नी
चिड़ी रोती रेमी।

चिड़ी गई कुतरा का पास। "कुतरा-कुतरा, बिलाई के खा।" "बिलाई

१ चूहा
२. बिल्ली

भारतवर्ष के राज्यों में एक ही कथा अपने विभिन्न रूपों में कैसे फैली रहती है इसका अध्ययन करना बड़ा मनोरंजक कार्य है। यह निश्चित है कि मालवी की कथाओं से लगाकर अन्य धार्मिक, सामाजिक, अनुश्रुतिक, काल्पनिक आदि सभी प्रकार की लोक-कथाएँ एक दूसरे रूप में राज्यों की सीमाएँ तोड़कर जीवित हैं। इसकी पुष्टि के लिए नीचे एक विशेष प्रकार की मालवी लड़ीबद्ध कथा (Accumulative droll), जो काफी प्रचलित है, दी जा रही है। यह लोक-कथा मालवा में अक्सर बूढ़ी स्त्रियाँ या घरे-मोहरे 'मा', अथवा नाना-नानी अपने बालकों को पास बैठाकर सुनाया करते हैं। मूल मालवी में कहानी इस प्रकार है:

चिड़ी-काग की वार्ता

कागला के पायो मोती ने चिड़ी के पायो चोंचो।[1] चिड़ी तो चरई गई चोंचो ने कागला को ले ग्यो मोती। चिड़ी ने कियो, "काग काग, मोती दे।"

कागलो नीम पे जाके ने बैठी ग्यो। चिड़ी गई नीम का पास। "नीम-नीम, काग उड़ा।" नीम बोल्यो, "काग ने म्हारो कँई बिगाड्यो जो उड़ाऊँ?" चिड़ी रोती हुई चली गई।

नीम काग उड़ाय नी,
काग मोती दे नी,
चिड़ी रोती रेगी।

चिड़ी गई सुतार कने। "सुतार-सुतार, नीम काट।" "नीम ने म्हारो कँई बिगाड्यो जो नीम काटूँ?"

सुतार नीम काटे नी,
नीम काग उड़ाय नी
काग मोती दे नी
चिड़ी रोती रेगी।

चिड़ी गई पटेल का पास। "पटेल-पटेल, सुतार के मार।" "सुतार

---

1 चावल।

नै म्हारो कंई बिगाड़यो जो उणे मारूँ ?"

पटेल सुथार ने ने नी....
काग मोती दे नी,
चिड़ी रोती रेगी।

चिड़ी गई राजा का पास। "राजा-राजा, पटेल ने मार।" "पटेल ने म्हारो कंई बिगाड़यो जा उणे मारूँ ?"

राजा पटेल के मारे नी
काग मोती दे नी
चिड़ी रोती रेगी।

चिड़ी गइ रानी का पास। "रानी-रानी, राजा से रूस।" "राजा नें म्हारो कंई बिगाड़यो जो रूसूँ ?"

रानी राजा से रूसे नी
काग मोती दे नी,
चिड़ी रोती रेगी।

चिड़ी गइ ऊंदरा[1] का पास। "ऊंदरा-ऊंदरा, रानी का कपड़ा काट।" "रानी ने म्हारो कंई बिगाड़यो जो हूँ कपड़ा काटूँ ?"

ऊंदरा कपड़ा काटे नी ...
काग मोती दे नी
चिड़ी रोती रेगी।

चिड़ी गइ मिनई[2] का पास। "मिनई मिनई, ऊंदरा के मार।" "ऊंदरा ने म्हारो कंई बिगाड़यो जो हूँ मारूँ ?"

मिनई ऊंदरा के मारे नी....
काग मोती दे नी
चिड़ी रोती रेगी।

चिड़ी गइ कुत्ता का पास। "कुत्ता-कुत्ता, मिनई के खा।" "मिनई

---

१ चूहा
२. बिल्ली

न म्हारो कांई बिगाड़्यो जो लड़ूँ ?"

कुत्तो बिलाई के खाय नी…
काग मोती द नी
चिड़ी रोती रेवी ।

चिड़ी गई बांस का पास । "बांस-बांस कुत्ता के मार ।" "कु
ने म्हारो कांई बिगाड़्यो जो उणे मारूँ ?"

बांस कुत्ता के मारे नी…
काग मोती दे नी
चिड़ी रोती रेवी ।

चिड़ी गई बस्ते का पास । "बस्ते-बस्ते, बांस के बाल ।" "ब
ने म्हारो कांई बिगाड़्यो जो बालूँ ?"

बस्ते बांस के बाले नी…
काग मोती दे नी
चिड़ी रोती रेवी ।

चिड़ी गई समन्दर का पास । "समन्दर-समन्दर, बस्ते बुझा ।" "ब
ने म्हारो कांई बिगाड़्यो जो बुझाऊँ ?"

समन्दर बस्ते बुझाय नी…
काग मोती दे नी
चिड़ी रोती रेवी ।

चिड़ी गई हाथी का पास । "हाथी-हाथी, समन्दर के चूस ।" "समन
ने म्हारो कांई बिगाड़्यो जो उणे चूसूँ ?"

हाथी समन्दर चूसे नी…
काग मोती दे नी
चिड़ी रोती रेवी ।

---

१ लाठी
२ आग
३ मवा

चिड़ी गई मच्छर का पास। "मच्छर-मच्छर, हाथी का कान में मर।"
मच्छर बोल्यो, "म्हारे कैं, अभी कान में भर्र करूँ।"
हाथी के, "म्हारा कान में क्यों मराय, हूँ अभी समन्दर सूखी करूँ।"
समन्दर बोल्यो, "म्हारे क्यों सूखे, हूँ अभी बस्ते बुझाय दूँ।"
बस्ते बोली, "म्हारे क्यों बुझाय, हूँ अभी डांग बाल दूँ।"
डांग के, "म्हारे क्यों बाले, हूँ अभी कुत्ता के मारूँ।"
कुत्ते बोल्यो, "म्हारे क्यों मारे, हूँ अभी मिना क कर्द करूँ।"
मिनई के, "म्हारे क्यों मारे, हूँ अभी ऊँदरा के मारूँ।"
ऊंदरो के, "म्हारे क्यों मारे, हूँ अभी रानी का कपड़ा काटी दूँ।"
रानी बोली, "म्हारा कपड़ा क्यों काटे, हूँ अभी राजा से कहूँ।"
राजा के, "म्हारा से क्यों कहे, हूँ अभी पटेल को काढूँ।"
पटेल अरज करे, "म्हारा क्यों काढ़ो, हूँ अभी सुनार के दूँ।"
सुनार के, "म्हारे क्यों काढ़ो, हूँ अभी सीप काट दूँ।"
सीप बोल्यो, "म्हारे क्यों काटे हूँ अभी काग उड़ाय दूँ।"
काग बोल्यो, "म्हारे क्यों उड़ाय, हूँ अभी मोती दर दूँ।"
काग ने मोती दर दिया। चिड़ी रोती रहगी।

डॉक्टर सत्येन्द्र ने अपनी पुस्तक 'ब्रज-लोक-साहित्य का अध्ययन' में इस प्रकार की कथाओं पर एक सुन्दर विश्लेषण प्रस्तुत किया है। उन्होंने ऐसी कहानियों को 'क्रम-संबद्ध' कहानी कहा है। शरच्चन्द्र मित्र ऐसी कहानियों की परिभाषा करते हुए लिखते हैं "Accumulative drolls or cumulative folk tales are stories in which the narrative goes on by means of short and pitty sentences, and, at every step of which all the previous steps thereof are repeated till at last the whole series of steps thereof are recapitulated."

इस कहानी में एक विशेष गति-क्रम और जिज्ञासा-पूर्ण विलक्षणता निहित है। एक पक्षिणी चिड़ी की कुलपालित माल-सुलभ मनोरंजन के अनुरूप

मनोवैज्ञानिक सामीप्य का प्रयास कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। इस प्रकार की कहानी में मुख्य पात्र द्वारा किसी वस्तु की प्राप्ति का उद्योग, पशु पक्षी, मनुष्य, जड़ अथवा चेतन पदार्थ से सहायता के लिए प्रार्थना, प्रत्येक प्रार्थना की निष्फलता, प्रतिहिंसा का अनुरोध और अन्त में क्षुद्र प्राणी का तैयार हो जाना कथावस्तु के प्रमुख निर्माण-तत्त्व हैं। क्षुद्र प्राणी के तैयार हो जाते ही कहानी पीछे की ओर लौटती है। क्रम-शृंखला टूटती जाती है और प्रत्येक प्राणी अथवा पदार्थ अपनी हानि की आशंका से भयभीत हो मुख्य पात्र के कार्य के लिए तैयार होता जाता है। अन्त में अभीष्ट फल की प्राप्ति के साथ कथा समाप्त होती है।

यही कहानी बिहार में तोता और मुर्गी के बच्चे की कहानी, बंगाल की टुनटुनी पक्षी और नाई की कहानी, छोटानागपुर की बटेरी की कहानी और मध्य की चीप और टौंस वाली कहानी से मिलती है। निश्चय ही अन्य प्रान्तों में भी ऐसी ही कहानियाँ प्रचलित हैं। उनमें केवल उपकरण और पात्र बदल जाते हैं, किन्तु कथावस्तु, क्रम और उद्देश्य में कोई अन्तर नहीं आता।

क्षुद्र प्राणी की सहायता के लिए तैयार हो जाना एक ऐसा वृत्त है जो लोक-कथाओं में बहुत प्रचलित है। डॉ० सत्येन्द्र इस वृत्त को बुद्ध-कालीन के आन्तरिक रहस्यों में निहित मानते हैं, यद्यपि इस विषय में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। क्षुद्र जीव का तत्पर हो जाना अनुभवगम्य सत्य है। 'मटोरे की भैंस पाड़ा ब्याय' वाली कहावत में सन्निहित भावों में यह अनुभव भी छिपा है कि बड़ी और भरोसे की वस्तु भी कभी-कभी धोखा दे जाती है और जिसकी कल्पना न की जाय ऐसी वस्तु काम दे देती है। छोटे मुँह बड़ी बात निकल जाना असम्भव नहीं। फिर क्या मजाल है कि मच्छर-जैसा प्राणी हाथी को न डरा दे। ऐसी कहानियों में जहाँ एक ओर बाल-मनोवृत्ति की तुष्टि के उपकरण अवस्थित हैं, वहाँ बड़ी और शक्ति-सम्पन्न वस्तुओं के ठीक सामने छोटे और शक्तिहीन प्राणियों की महत्ता द्वारा एक तीखा व्यंग्य भी प्रस्तुत है।

१६

लोक-नाट्य

लोक-नाट्य 'लोक'-रंजन का आडम्बरहीन साधन है जो नागरिकों के मंच से अपेक्षाकृत निम्न स्तर का, पर विशाल जन के हर्षोल्लास से स्पन्दित है। ग्रामीण जनता में इसकी परम्परा युगों से चली आ रही है। चूँकि 'लोक' में ग्रामीण एवं नागरिक जन सम्मिलित हैं, अतः लोक-नाट्य एक मिले-जुले जन-समाज का मंच है। परिष्कृत रुचि के लोक के लिए जिन नाटकों का विधान है उसकी आधार भूमि यही लोक-नाट्य है। परिस्थितियों के प्रभावों ने इसके विकास को ठेस पहुँचाई अवश्य है, पर वे इसकी गति को एकदम कुण्ठित न कर सके। देश की घटनाएँ इन्हें प्रभावित करती हैं, समाज की प्रचलित भावनाएँ इनमें रस का संचार करती हैं और लोक-भाषाएँ इनकी अभिव्यक्ति में चार चाँद लगा देती हैं।

भारतीय नाटकों के अध्ययन से ज्ञात होगा कि उनके विकास का बीज लोक-नाट्यों में निहित है। अपने अपरिमार्जित किन्तु जन-भावों को ठीक-ठीक व्यक्त करने वाले अभिनय एवं वाचिक अभिव्यक्ति के साधन लोक-नाट्य संस्कृत नाटकों की परम्परा में अपने मूल प्रभावों-सहित प्रकट हुए। भरत के नाट्य शास्त्र में नाटक को पंचम वेद कहा गया है जो शूद्रों के मनोरंजन के लिए भी है। शूद्र वस्तुतः साधारण जन ही हैं। नाट्य-शास्त्र में तीन प्रकार के मंचों का विधान है—विकृष्ट, चतुरस्र और त्र्यस्र। त्र्यस्र

ाव ने स्थानीय कलाओं को पीछे डालकर पाश्चात्य प्रभुत्व के माध-
से सबको सम्मोहित कर लिया। इतना होने पर साधारण जन-समाज
म्परागत मनोरंजन के साधन अपनी धीमी गति से प्रचलित रहे। संक्षेप
पर विचार करना यहाँ समीचीन होगा।

: वीथी भागवतु

भागवतु तेलुगु लोकनाट्य है जिसे हम खुला मंच कह सकते हैं।
ी शताब्दियों में वीथी भागवतु का खूब प्रचार रहा। जहाँ जनता में
प्रचार था वहाँ किन्हीं अंशों में शासन द्वारा सम्मान भी इसे प्राप्त
। 'कूचिपुडि कलाकार' भागवतियाँ यात्रा करके अपने प्रदेश की जनता
न किया करती थीं। गाँवों की जनता के लिए इन्हीं लोगों द्वारा
लित मनोरंजन प्रणाली आज भी विद्यमान है। मन्दिरों के खुले भाग में
साधारण ऊँचाई पर मंच बनाकर पात्रों द्वारा अभिनय किया जाता
समूह-गायन का इन अभिनयों में बड़ा महत्त्व है।

बोम्मलाट

बोम्मलाट का अर्थ है 'चमड़े के चित्रों का खेल'। ये खेल इन
द्वारा उसी तरह सम्पादित होते हैं, जैसे कठपुतलियों के प्रदर्शन।
से मध्यवर्ती मंच पर इन चमड़े के चित्रों को सूत्रधार नचाता है
पृष्ठ भाग से ही कथा-संकेत देता है। कहते हैं इण्डोनेशिया के पोम्माय
ों में इस भारतीय लोक-मनोरंजन का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है।
दोनों मनोरंजनों की कथा-वस्तु पौराणिक एवं रामायण या महाभारत
सम्बन्धित है। प्राचीन दक्षिण भारतीय ग्रन्थों में इन प्रकारों के अतिरिक्त
कोई रूप नहीं मिलते।

राष्ट्र

ी नाटकों की पृष्ठभूमि जनता में प्रचलित ललित, गोंधल, तमाशा

और बहुरूपि आदि नाट्य प्रकारों से सम्बन्धित है। इसमें अतिशयोक्ति न होगी कि महाराष्ट्र के ये लोक-नाट्य प्रकार कर्नाटकीय लोक-नाट्यों से बहुत-कुछ सम्बन्धित हैं तो भी उन्हें एकदम एक ही वस्तुएँ स्वीकार करना कठिन है।

ललित

मराठी विद्वानों में ललित की उत्पत्ति के सम्बन्ध में मतभेद है। रंगनाथ दपडकवे के अनुसार दादापन्त नामक व्यक्ति ने १६वीं शताब्दी में ललित का प्रथम बार प्रदर्शन किया, पर तुकाराम (१७वीं शताब्दी) के अभंगों में ललित का उल्लेख है तथा महाराष्ट्रीय ज्ञान-कोष के लेखक उसे अति प्राचीन मानते हैं। १७वीं शताब्दी में ललित में प्रयुक्त पद्य बहुत-कुछ हिन्दी ही था। दक्षिण भारतीय हिन्दी भाषा की दृष्टि से ललित बहुत-कुछ हिन्दी नाटकों के निकट है। मध्ययुग में ललित अपनी पूर्णोन्नति पर था। इसके द्वारा दशावतार, कृष्णदेवयानी, दमाजीपन्त आदि कथाएँ अभिनीत की जाती हैं। प्रारम्भ में नान्दी और गणपति का प्रवेश होता है। कथाओं में कथोपकथन कम और गीत तथा अभिनय का महत्त्व अधिक है। ये नाटक धार्मिक उत्सवों के अवसर पर अथवा नवरात्रि के दिनों में प्रदर्शित होते हैं।

गोंधल

गोंधल भी मराठी नाटक के आदि-रूपों में अपना स्थान रखता है। गोंधल का शाब्दिक अर्थ है गड़बड़। नृत्य एवं गान के मिश्रित प्रयोग द्वारा इसके माध्यम अम्बादेवी के प्रति सम्मान व्यक्त किया जाता है। वैसे गोंधल प्रमुख हास्य-अभिनेता को कहा जाता है। संवाद पवाड़े की धुन में चलते हैं। गोंधल और पायलीबुवा के बीच संवाद-गान कथा को विकसित करता है। गोंधल पर धार्मिक तत्त्वों के साथ तान्त्रिक भावों का प्रभाव भी पड़ा है, क्योंकि कभी कभी देवी का अंग में प्रवेश, अभिनेता

का घूमना और मुख से अव्यवस्थित वाक्यों का बोलना इस प्रभाव को प्रकट करता है।

तमाशा

तमाशा वस्तुतः एक प्रकार का गीत-नाट्य है। दो-तीन पुरुषों के सा एक नाचने वाली नायिका नाच गाती है। पुरुषों के पास ढफ, ढोलक या और एकाध वाद्य होता है। नायिका लावनियाँ गाती है और सबक लोगों के सामने आती है। तमाशा का प्रभाव महाराष्ट्र में अधिक है साधारण जनता के लिए यह खेल बिना किसी धार्मिक भाव के हृदय प असर करने वाला मनोरंजन का साधन है, क्योंकि इसमें पौराणिकता क प्रभाव नहीं अपितु सामाजिक, ऐहिक और शृंगारपरक भावनाओं के कथा कों और पद-कथनों का प्रचार है। आज भी मराठी मंचों पर तमाश बड़े चाव से किया जाता है।

भराडी, बहुरूपिया और चित्रकथी भी महाराष्ट्र की जनता के मनोरंजन के साधन हैं। पर इनमें सामूहिकता का अभाव और केवल नाच तथा व्यक्ति का महत्त्व अधिक है। इनका प्रचार कम है।

गुजरात : भवाई

भवाई गुजरात में अत्यन्त ही साधारण स्तर का प्रचलित लोक-नाट्य है। इसके लिए मंच की आवश्यकता नहीं होती। गाँव-गाँव में भवाई मण्डलियाँ घूमती रहती हैं जिनके द्वारा जीवन की साधारण घटनाओं का भवाई में प्रदर्शन किया जाता है। पुरुष गायक सम्मिलित होकर गाते हैं। प्रारम्भ में गणपति का प्रवेश होता है। अम्बा की स्तुति भी की जाती है। तत्पश्चात् कोई प्रहसनात्मक कथा प्रस्तुत की जाती है। भवाई में अश्लीलता भी सामने आ जाती है।

बंगाल : यात्रा

बंगाल और पूर्वी बिहार में यात्रा (जात्रा) लोक-नाट्य का संगठित रूप है। 'यात्रा' का अर्थ है प्रवास या जुलूस। कृष्णोपासकों का दल पर्व उत्सवों के अवसर पर कृष्णलीलाओं को संगीत-नाटक के माध्यम से मार्ग में प्रदर्शित करते हुए जाता है। यात्रा में क्रमशः कृष्णलीला की आड़ में शृङ्गारपरक गीत-अभिनय का प्रवेश हुआ। मन्दिरों के आंगन में ये लीलाएँ विशेष रूप से खेली जाती रहीं। निस्सन्देह लोक-रुचियों ने धार्मिक भावों पर हावी होकर उच्छृङ्खलता का रूप धारण किया। कहते हैं १९वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में कृष्णकमल गोस्वामी के प्रयत्नों से इसमें अनियमितता और पतनोन्मुखी स्थिति सुधरने लगी। प्रारम्भ में यात्रा का संगीत-पक्ष सम्पन्न स्थित और अभिनय साधारण कोटि का हुआ करता था। कतिपय रङ्ग प्रयोगों ने कथानकों में शिथिलता ला दी थी। कृष्णकमल गोस्वामी ने इस दिशा में कथा, विषय-वस्तु और बाह्य रूपों को परिष्कृत करने का प्रयत्न किया।

गम्भीरा

गम्भीरा शैव महासम्मिलनी का मंच है। प्रायः सन्ध्या के समय मुख पर आवरण पहनकर लोग शिव की आराधना में भिन्न-भिन्न प्रकार के स्वांग जन-साधारण के समक्ष करते हैं। इसमें मंच की आवश्यकता नहीं होती। जमीन पर कुछ बिछा दिया जाता है और साधारण-सा परदा तानकर पर समारम्भ किया जाता है। लोक-भावों को व्यक्त करने का यह उत्तम माध्यम है। अभिनेता नृत्य करते हैं और सम्मिलित रूप से ऊँची आवाज में गाते हैं। अभिनय में गम्भीरता का सर्वथा अभाव रहता है। अभिनेताओं को समक्ष बैठे हुए लोगों से बीच-बीच में बात करने या अपनी सुविधा के लिए परदे के पीछे जाने आने की स्वतन्त्रता रहती है।

राजस्थान : कठपुतली

कठपुतली के खेल करने वाले राजस्थान में घूमते फिरते हैं। प्राय: ·

खड़ी करके आगे के भाग में रंगीन वस्त्र से बना परदा टाँग दिया जाता है, जिसके आगे सूत्रधार पुतलियाँ उतारकर राजपूती वीरता को प्रकट करने वाले मुगल-दरबार से सम्बन्धित किसी घटना को संचालित करता है। एक व्यक्ति ढोलक पर कथा का वर्णन करता है। पुतलियों का रंग चमकीला और पात्रों के अनुरूप होता है, जिससे व्यक्तित्व का पूर्वाभास होता है।

ख्याल

ख्याल राजस्थान लोक-मंच का प्रमुख रूप है। ख्याल के लिए साधारण मंच बनाया जाता है, जिस पर पौराणिक तथा धार्मिक कथाओं के अतिरिक्त जनश्रुति पर अथवा ऐतिहासिक घटनाओं से सम्बन्धित कथाओं को अभिनीत किया जाता है। गाँवों में ख्याल का प्रचार अधिक है। स्त्री पात्रों का अभिनय पुरुष ही करते हैं। संगीत ख्याल का प्राण है, अतः ख्याल गीति-नाट्य की श्रेणी में आते हैं।

ब्रज : रास

ब्रज का रास साधारणतः जनता का आडम्बरहीन और खुला मंच है। राधा-कृष्ण के लिए मंच पर आसन होते हैं। गोपिकाओं और सखा-सखियों के लिए भी स्थान होता है। भागवत, वैष्णव-सम्प्रदाय के कृष्ण-भक्त कवियों, जयदेव के पदों और अन्य मध्यकालीन साहित्य-सामग्री ने कृष्णोपासना के इस नाट्य-प्रकार को अवश्य प्रभावित किया। इसका मुख्य विषय कृष्णलीला प्रदर्शित करना है। नृत्य और गीत-वाद्यों का प्राधान्य तथा कथोपकथन की न्यूनता इसमें देखी जाती है।

रामलीला

रामलीला का आधार राम-काव्य है, पर लोक-नाट्य के रूप में यह उत्तम भारतीय परम्परा प्रायः समस्त भारतवर्ष में विद्यमान है। रामलीला का प्रचार गाँवों में आज भी खूब है। दशहरे के अवसर पर यह परम्परा इसे सजीव भासित होती है।

नौटंकी

नौटंकी और ख्याल में बहुत समानता है। सम्भवतः नौटंकी बहुत बाद की वस्तु है और रीतिकालीन जनता के मनोरंजनार्थ शृंगारपरक कथाओं को अभिनीत करने के लिए इसका प्रचार हुआ।

मालवा : मांच

'मांच' मंच शब्द का मालवी तद्भव रूप है। मालवी में यह शब्द मंच बाँधने और उस पर अभिनीत किये जाने वाले ख्यालों (खेलों) के अर्थ में प्रयुक्त होता है। मांच प्रायः ग्राम अथवा नगर के खुले स्थान में ऊँची भूमि पर अथवा तख्त बिछाकर या बाँधकर बनाये हुए मंच पर खेले जाते हैं। इनके खेलों के लिए नेपथ्य अथवा रंगमंचीय आडम्बरों की आवश्यकता नहीं होती। अभिनेता मंच के निकट किसी स्थान से अपने वस्त्र बदलकर अभिनय के हेतु मंच पर आ जाते हैं, जिनमें स्त्रियों का अभिनय भी पुरुष ही करते हैं। मंच की व्यवस्था इस प्रकार की जाती है कि दर्शकगण कहीं से भी बैठकर देख सकते हैं। वस्त्राभूषण अथवा अभिनय का महत्त्व इन मांचों में गौण विषय है। प्रधान वस्तु संगीत है। उसमें भी ऊँची आवाज में भावाभिव्यक्ति के लिए गाए जाने वाले 'बोल' अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। श्रोतागण 'बोलों' अथवा पात्रों के संवादों के चोयाल पर 'बैर की है' कहकर झूम उठते हैं। 'बोल' की लयकारी का साथ ढोलक करती है। एक विशेष आवेग के साथ ढोलकिया टेक पर थाप मारकर भावों के महत्त्वपूर्ण अंश को उत्कर्ष प्रदान करता है। गाने वाला ठीक इस समय 'ढोलक तान फड़कके के' ध्वनि का उच्चारण करता है। अतएव मांच 'लोक-गीति-नाट्य' है। लोक-गीति नाट्य के लिए जिन गुणों का होना आवश्यक है वे सभी मांच में निहित हैं। लोकगीतों की हृदयस्पर्शी शब्द-योजना, गीति-तत्त्व और नाट्य का साम-ञ्जस्यपूर्ण स्वरूप तीनों का समावेश इन मांचों में है। संगीत के विशेष टेक्नीक का प्रदर्शन करने के लिए इन मांचों में छोटी रंगत, रंगत दुमरी, रंगत दोहरी, रंगत भेला की, रंगत दादरा आदि शब्दों द्वारा छन्द प्रयुक्त

लोकोक्तियाँ भी हैं।

समग्र रूप से कहावतों का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि कल्पना और स्वर्ग का आडम्बर उनमें नहीं है। वे यथार्थ की भूमि पर जीवन के लिए नीति-वाक्यों की भाँति प्रचलित हैं। अन्योक्ति के रूप में कहावतें अधिक घटित होती हैं।

मोटे रूप में कहावतों का निम्नानुसार वर्गीकरण किया जा सकता है—

१ विषयानुसार, २ स्थानानुसार, ३ भाषानुसार, ४ जातीयानुसार

भारतीय भाषाओं की कहावतों का उक्त चारों प्रकार से वर्गीकरण किया जा सकता है। स्थानीय बोलियों और भाषाओं में अपार सामग्री उपलब्ध है। घाघ और भड्डरी के नाम से पाई जाने वाली कहावतें उक्त वर्गीकरण में सम्मिलित की जा सकती हैं, अथवा उन्हें व्यक्तियों के नाम से अलग भी रखा जा सकता है। पं० रामनरेश त्रिपाठी ने परिश्रम करके 'ग्राम साहित्य' भाग १, में घाघ, भड्डरी, लालबुझक्कड़, मायोदास, [illegible] आदि व्यक्तियों द्वारा निर्मित कहावतें संग्रहीत की हैं।

अकबर के समय में घाघ द्वारा कितनी ही कहावतें प्रचलित की गई थीं। कन्नौज के पास उनके नाम का एक गाँव भी पहले था। परन्तु अब गाँव का नाम तो बदल गया, तो भी उनके वंशज उसमें जीवित हैं। लोगों का कहना है कि घाघ से उनकी पतोहू की सदा ही होड़ रहा करती थी। घाघ जो कहते पतोहू उससे उलटा कहती। घाघ की कहावतें किसानों को प्रचुर मात्रा में याद हैं। उनकी कहावतों में नीति की बातें इतनी सचाई से व्यक्त हुई हैं कि कोई भूले नहीं भूल सकता—

आलस नींद किसानै नासै, चोरै नासै खाँसी।
अँखियाँ लीबर बेसवै नासै, बाबै नासै दासी॥

× × ×

सावन घोड़ी, भादों गाय, माघ मास जो भैंस बियाय।
कहै घाघ यह साँची बात, आपै मरै कि मालिक खाय॥

भड्डरी के जन्म के सम्बन्ध में कितनी ही विचित्र बातें पाई जाती हैं।

परन्तु वे कब हुए, कहाँ हुए इस सम्बन्ध में कोई प्रमाण प्राप्त नहीं। गोरखपुर जिले के आसपास भडुरी नामकी एक जाति पाई जाती है जो वर्षा के सम्बन्ध में भडुरी की कहावतों के आधार पर भविष्य आदि बताया करती है। राजस्थान में भडुली नाम की एक स्त्री की कहावतें भी प्रचलित हैं। भडुरी और भडुली की अधिकांश कहावतें इस नाम के झगड़े में मिल सी गई हैं।

भाषा की सम्पन्नता अथवा उसकी रसात्मकता में कहावतें बड़ा सहयोग देती हैं। स्व. प्रेमचन्दजी की लेखनी ने जो भाषा कहावतों को यत्र-तत्र प्रयुक्त करके हिन्दी को प्रदान की है वह पढ़ी जाने पर एक प्रकार का मधुर रस बरसा जाती है। बाबू जयशंकर प्रसाद ने भी कहीं-कहीं कहावतों को स्थान दिया है। 'उसने कहा था' के लेखक चन्द्रधर शर्मा गुलेरी जी ने जो भी लिखा है कहावतों को प्रयुक्त करके उसमें जान डाल दी है। लोकोक्ति नामक एक अलंकार भी साहित्य में विद्यमान है जो इस बात का सबूत है कि लोकोक्तियाँ भाषा में अलंकार का काम करती हैं। ये वास्तव में 'सोने में सुहागा' वाली कहावत को चरितार्थ करती हैं। आज हमारा दृष्टिकोण बिलकुल बदल गया है। जिस प्रकार कविता में रसात्मकता लाने के लिए प्रादेशिक शब्दों का पुट दिया जाता है, उसी प्रकार प्रादेशिक मुहावरों और कहावतों का प्रयोग भाषा में जान डाल देता है। दुनिया नवीनता के पीछे दौड़ती है। नवीनता आखिर क्या है? अनुभव तो दुनिया सदियों से करती आ रही है। वही पुराने अनुभव और वही हमारे स्थायी भाव जब नवीन शैली या नवीन ढंग से व्यक्त होते हैं तो हमें नवीनता का अनुभव होता है। सत्य तो चिरस्थायी है। उसको प्रकट करने में नवीनता चाहिए।

यह स्पष्ट है। फिर कहावतें पूर्ण सत्य तो कही नहीं जा सकतीं। यथार्थ जो है, वह असली रूप में कहावतों में व्यक्त नहीं। उसका संकेत-मात्र कहावतें प्रस्तुत करती हैं। एक स्थान विशेष का सत्य दूसरे स्थान-विशेष का पूर्ण सत्य नहीं होगा। अपने स्थान की सीमा और तत्कालीन प्रभाव उसमें होगा।

कहावतों में अपने देश-काल की विशेषतायें विद्यमान होती हैं। कम-से-कम उनके द्वारा उनके उद्गम-स्थान और तत्कालीन परिस्थिति का अ[illegible] कम तो लगाया ही जा सकता है।

घोड़ा की चाँच गढ़ैचो, चंदेपुर की चाँच लबैयो

×   ×   ×

ढेबरी रावाजी थांरी देख दोड सुहागण एक ही मेव

×   ×   ×

मगरी मे सुलग्यां करे झूझ का अमर राव

झूला पे झुलग्यां करे, जय माता मेवाड़

ये कहावतें मेवाड़ की उपज हैं या 'जो पैसा देरा जगन्नाथ, झोपड़ी में पैगो ओसवाल' जैसी कहावत राजस्थान की है, यह सरलता से जाना जा सकता है।

हर प्रान्त का अपनापन उसकी कहावतों में मिलेगा। यों अनुभवरूपी सागर से सभी ने रत्न इकट्ठा कर सुरक्षित रखे हैं। कहावतें अनुभव की निचोड़ हैं। अनुभव सर्वकालीन और सार्वदेशिक है, अतः उसके आधार पर निर्मित कहावतें अलग-अलग राज्यों में विभिन्न शब्दों में ढली हुई मिलती हैं। आपने सुना होगा—

अन्धा बाँटे रेवड़ी अपने-अपने को दे

यह लोकोक्ति मेवाड़ी में इस प्रकार है—

आन्धो बाँटे सीरणी घर-घर का ने देय।

इसी तरह मेवाड़ी में—

कवि बजाजी पारखी नृप, वैश्या अरु भाट

यां से कपट न कीजिए थांरा रखणा [illegible]।

साधारण रूप में—

कवि चितेरे, पारखी मंगता नारी नार

इन चारों को जानिये, सभी गर्व के हार।

राजस्थानी में कहावत है—

भूख के लगावन कोनी नींद के बिछावन कोनी है।

इसी को दूसरे स्थान पर बढ़ाकर कहा गया है—

मौत न जाने जात कुजात, भूख न जाने बासी भात,
नींद न जाने टूटी खाट, प्यास न जाने धोबी घाट।

कहावतें जब संक्रान्ति-काल से गुजरती हैं तब उनके रूप का निश्चय हो जाना सम्भव है। परिस्थितियाँ जब बदलती हैं तो कितनी ही कहावतें केवल ऐतिहासिक महत्व की बन जाती हैं। उस समय यदि वे लिपिबद्ध नहीं की जातीं तो निश्चय ही नष्ट हो जाती हैं, क्योंकि समय का प्रभाव उन पर विशेष तौर से पड़ता है।

इस दिशा में प्रयत्न बहुत कम हुए हैं। फेलन ने हिन्दी कहावतों पर 'फेलनस् डिक्शनरी ऑफ़ हिन्दुस्तानी प्रोवर्ब्स' (१८८६) नामक ग्रन्थ में मारवाड़ी, पंजाबी, भोजपुरी और तिरहुती कहावतों पर प्रकाश डाला है। कश्मीरी की लोकोक्तियों पर जे० एच० नौल्स् का काम उल्लेखनीय है। पंजाबी, मराठी, बंगला, उड़िया आदि भाषाओं में महत्वपूर्ण संग्रह तैयार किये गए हैं। मेरठ क्षेत्र के मुहावरों पर लगभग १७ वर्ष पूर्व परमवीरेन्द्रसिंह शर्मा ने 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में विस्तारपूर्वक (उल्लेख्य सामग्री सहित) एक निबन्ध प्रकाशित किया था। उसी प्रकार उन्हीं दिनों डॉक्टर पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल की भूमिका सहित गढ़वाली भाषा की कहावतें श्री शालिग्राम वैष्णव के प्रयत्नों से पत्रिका (संवत् १९९४) में प्रकाशित हुईं। गुजराती में 'गुजराती कहेवत-संग्रह' (दलीचन्द शाह) मालवी में 'मालवी कहावतें' (रतनलाल मेहता), मेवाड़ी में मेवाड़ी कहावतें' आदि उपयोगी संग्रह उपलब्ध हैं।

२१

प्रहेलिका-साहित्य

प्रहेलिका (पहेली) बुझौवल, पारसी (मालवी), प्याली (मा०) या उखाणा भी कहलाती हैं। संस्कृत में पहेली को 'ब्रह्मोद्य' कहते हैं। डॉ० सत्येन्द्र ने पहेली-साहित्य को लोकोक्ति-साहित्य का ही एक अंग माना है, क्योंकि लोकोक्तियों में शब्द-संकोच द्वारा अर्थ-विस्तार का जो तत्व निहित है, वह पहेली में विद्यमान है। पहेली द्वारा वस्तु के सम्बन्ध में कतिपय विशेषताओं सहित संकेत भर रहता है। रूप रंग, गुण और आकार प्रकार भी सांकेतिक रूप में व्यक्त किये जाते हैं। उन्हें ही आधार मानकर उत्तर निकाले जाते हैं। गाँवों में अवकाश के क्षणों में पहेलियाँ बालकों, बूढ़ों और नौजवानों सभी के लिए मनोरंजन का उत्कृष्ट साधन हैं। स्त्रियाँ भी उन्हें अपना अलग समझती हैं। ससुराल में जामाता की परीक्षा लेने के लिए स्त्रियाँ पहेलियों की झड़ी लगा देती हैं। स्मृति पर विश्वास रखने वाले, अनुभवी और बुद्धिमान भी कभी-कभी इनके कौतूहल मिश्रित अर्थ-गौरव के सामने सिर झुका देते हैं। इसीलिए श्री रामनरेश त्रिपाठी ने पहेलियों को 'बुद्धि पर शान चढ़ाने का यन्त्र' या 'स्मरण-शक्ति और वस्तु-ज्ञान बढ़ाने की कलों' कहा है। अपना तो विश्वास है कि ऋग्वेद में पाई जाने वाली पहेलियों के ज्ञान से उसे 'पहेलियों का वेद' कहा जाय तो ठीक है।

ऋग्वेद का एक मन्त्र यहाँ टीकासहित उद्धृत करना उचित होगा—

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा
द्वे शीर्षे सप्तहस्ता सो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति
महादेवो मर्त्यां आविवेश।

(जिसके चार सींग हैं, तीन पैर हैं, दो सिर हैं, सात हाथ हैं, जो तीन बन्धनों से बँधा हुआ है, वह मनुष्यों में प्रविष्ट हुआ वृषभ शब्द करता हुआ महादेव है।)

'साधारण अर्थ यही है, पर यथार्थ यह है कि वह वृषभ यज्ञ है जिसके चार सींग चारों वेद हैं, प्रातःकाल, मध्याह्न और सायंकाल तीन पैर हैं, उदय और अस्त दो सिर हैं, सात प्रकार के छन्द सात हाथ हैं, वह मन्त्र, ब्राह्मण और कल्प रूपी तीन बन्धनों से बँधा हुआ मनुष्य में प्रविष्ट है।

''महाभाष्यकार पातञ्जलि ने प्रारम्भ ही में लिखा है कि वह शब्द है। चार सींग चार प्रकार के शब्द (नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात), तीन पैर भूत, भविष्य और वर्तमान, तीन काल, दो सिर, दो प्रकार की नित्य और कार्य भाषाएँ, सात हाथ सात विभक्तियाँ, हृदय, गला और मुख बाँधने के स्थान।

''दूसरों के मत से यह सूर्य है। चार सींग चारों दिशाएँ, तीन पैर तीन वेद, दो सिर रात और दिन, सात हाथ सात किरणें, बाँधने के तीन स्थान पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक।''[1]

ऊपर दिया गया मन्त्र निश्चय ही पहेली है जो साधारण जन-बुद्धि से उच्च स्तर की है। वैदिक युग में ब्रह्मोद्य अनुष्ठानिक क्रिया का अंग समझा जाता था। अन्य देशों में भी पहेलियों को अनुष्ठानिक महत्त्व प्राप्त थी। ऋग्वेद में प्रयुक्त ब्रह्मोद्यों से ज्ञात होता है कि पहेलियाँ जन की विकासोन्मुख अवस्था के साथ ही क्रमशः विकसित हुईं। पूर्व वैदिक काल के मौखिक साहित्य ने वेदों के निर्माताओं को अपनी महत्ता से आकर्षित किया, इसीलिए आज तक हम लोक में प्रचलित इस बुद्धिपरक साहित्य के विस्तार का अध्ययन

1 देखिए, 'ग्राम साहित्य' भाग ३, पृष्ठ १८८

करते हैं तो कुतूहल होता है। आदिवासी जातियों भी पहेलियों का प्रयोग करती हैं। वैवाहिक अवसरों पर पहेलियों द्वारा परिजनों की बुद्धि-परीक्षा समान रूप से सभी प्रकार की जातियों में विद्यमान है। किन्हीं अंशों में आर्येतर जातियों में भी इसका प्रचलन था। कालान्तर की आर्येतर जातियों में यह प्रथा उसी तरह विद्यमान थी जिस तरह आर्य जातियों में है।

"पहेली लोकोक्ति है," डॉ सत्येन्द्र का तर्क है। "लोकोक्ति केवल कहावत ही नहीं है, प्रत्येक प्रकार की उक्ति लोकोक्ति है इसलिए पहेली लोकोक्ति है। लोकमानस इसके द्वारा गर्व-गौरव की रक्षा करता है और मनोरंजन प्राप्त करता है। यह बुद्धि-परीक्षा का साधन है। अर्थ से इसका सम्बन्ध नहीं होता, प्रकृत को गोप्य करने की चेष्टा रहती है, बुद्धि कौशल पर निर्भर करती है।"[1]

ब्रज में प्राप्त पहेलियों के आधार पर सत्येन्द्र जी ने उन्हें सात वर्गों में विभक्त किया है—

१ खेती सम्बन्धी
२ भोजन सम्बन्धी
३ घरेलू वस्तु सम्बन्धी
४ प्राणी सम्बन्धी
५. प्रकृति सम्बन्धी
६ अंग प्रत्यंग सम्बन्धी
७ अन्य

उक्त वर्गों के अन्तर्गत वस्तुओं की सूची से प्रायः वे सभी चीजें आ जाती हैं जिनका जीवन से रोजमर्रा का सम्बन्ध है। साधारण-से-साधारण वस्तु भी पहेली की पकड़ से बची नहीं है। [illegible] ही पहेलियों का निर्माण होता है। गाँव के बुद्धि कौशल की यह साधना रखने वाली वस्तु नहीं है। "गाँव वालों को न सूर मिले, न तुलसी, न कबीर, न केशव उन्होंने पुरी से चली आती हुई ज्ञान की इस घुमावदार उलझी नदी को कभी तक सूखने

---

१ 'ब्रज-लोक-साहित्य का अध्ययन', पृष्ठ २२०

नहीं दिया। ऋग्वेद का यह वैसा देहाती रूप में आज भी हमारे सामने है। सभ्य और शिक्षित समाज के लिए ग्रामीणों के पास यह अनमोल निधि संचित है।"[1]

पहेलियों का निर्माण करने वाली बुद्धि अपने ढंग की अलग ही वस्तु है। परम्परा-प्रचलित लोक-साहित्य के आत्मीय वातावरण में उसका विकास होता है। उसके लिए दृष्टि का पैनापन और उक्ति-वैचित्र्य तथा विनोद भी आवश्यक है। पहेली वैसे तो वस्तु का वर्णन होती है पर उपमानों के सहारे उसे प्रस्तुत किया जाता है। अस्पष्ट संकेत देकर सामने वाले से वस्तु का नाम पूछना वस्तुतः बुद्धि-परीक्षा के समान ही व्यापार है।

साहित्य में प्रहेलिका अलंकार का एक भेद है। अर्थ-चमत्कार से समन्वित यह साहित्य अभी अध्ययन के अभाव में एक ओर छिपा पड़ा है। हिन्दी मराठी या अन्य भाषाओं में फुटकर रूप से यहाँ-वहाँ कुछ पहेली साहित्य मिल जाता है। हिन्दी में 'ग्राम-साहित्य' (भाग १) में त्रिपाठीजी ने कुछ पहेलियाँ दी हैं, पर स्वतन्त्र रूप से कोई पुस्तक उपलब्ध नहीं है।

भारतीय भाषाओं में प्रहेलिका-साहित्य का संकलन और अध्ययन लोक-साहित्य के एक अंग को पुष्ट करके अभिव्यक्ति-चातुर्य एवं बुद्धि-विलास को बल दे सकेगा, यह अविश्वसनीय नहीं है।

---

१ रामनरेश त्रिपाठी

२२

लोकवार्ता-शास्त्र-सम्बन्धी प्रकाशित सामग्री

[लोकवार्ता शास्त्र का अध्ययन करने के लिए प्रामाणिक सामग्री की सूची अत्यावश्यक है। श्री महादेव साहा द्वारा 'लोक-साहित्य-सम्बन्धी भारतीय साहित्य की संक्षिप्त सूची'[1] सम्मेलन पत्रिका (पौष शुक्ल प्रतिपदा, संवत् २०१०, भाग ४०, संख्या १) में प्रस्तुत की गई है। इसके पूर्व हिन्दी में इस तरह का प्रयत्न नहीं हुआ। बंगला में मनसूरउद्दीन ने 'हारामणि' (१९४२) ग्रन्थ में ऐसी ही सूची दी थी। पण्डित रामनरेश त्रिपाठी ने भी 'कविता कौमुदी' (५वाँ भाग) में अंग्रेजी, हिन्दी, गुजराती और मराठी पुस्तकों की सूची दी है। किन्तु यह कार्य हिन्दी में अधिक विस्तार से नहीं किया गया। इस अभाव की पूर्ति के लिए ऊपर उल्लिखित सूचियों की पुस्तकों को प्रस्तुत सूची में सम्मिलित करते हुए अनेक नई पुस्तकों और सामग्री का निर्देश यहाँ किया जा रहा है। प्रस्तुत सूची में जिन पुस्तकों अथवा सामग्री का उल्लेख किया गया है वह मुख्यतः भारतीय लोकवार्ता-शास्त्र से सम्बन्धित है जिनका सम्बन्ध अभारतीय लोकवार्ता-शास्त्र से है उन्हें यहाँ सम्मिलित नहीं किया गया है। यह सूची पूर्ण नहीं है। मेरा अनुमान है कि अंग्रेजी में और भी पुस्तकें अवश्य हैं जिनका यहाँ जिक्र नहीं किया जा सका। हिन्दी में राजस्थानी गीतों की एक पुस्तक मेरे देखने में आई थी, किन्तु उसके आगे-पीछे के पृष्ठ न होने से लेखक-प्रकाशक का पता न चल

सम। बंगाली पुस्तकों की सूची-महादेव साहा के आधार पर है। उन्होंने अंग्रेजी की केवल ११२ पुस्तकों का जिक्र किया है। यहाँ और भी पुस्तकें सूची में मिला दी गई हैं। गुजराती की सूची अधूरी है। जो भी सामग्री प्राप्त थी, उसका उपयोग किया जा सका है। वैसे अनेक भाषाओं की सामग्री यहाँ छूट गई है, फिर भी सुविधा के लिए यह सूची उपयोगी है। इसे आगे बढ़ाया जा सकता है।]

हिन्दी

१ आर्चर, डब्ल्यू जी और संकठाप्रसाद : भोजपुरी ग्रामगीत
२ कन्हैयालाल सहल : राजस्थानी कहावतें
३ कृष्णदेव उपाध्याय : भोजपुरी ग्रामगीत (२ भाग), हि० सा० सं०, प्रयाग, सं० २०००
४ कृष्णानन्द गुप्त : ईसुरी की फागें (भाग १), लोकवार्ता परिषद्, टीकमगढ़।
५ गंगा बहादुर मानव : [illegible], बाँकीपुर, १८८४
६ [illegible] माली : मारवाड़ी गीत-संग्रह
७ जगदीशसिंह गहलोत : मारवाड़ी ग्रामगीत
८ ताराचन्द ओझा : मारवाड़ी स्त्री-गीत संग्रह
९ दुर्गाशंकर प्रसादसिंह : भोजपुरी लोकगीतों में करुण रस, १९२०
१० देवेन्द्र सत्यार्थी : धरती गाती है, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
११ ,, : धीरे बहो गंगा
१२ ,, : बेला फूले आधी रात, राजहंस प्रकाशन, दिल्ली
१३ ,, बाजत आवे ढोल, एशिया प्रकाशन, नई दिल्ली
१४ नरोत्तम स्वामी : राजस्थान रा दूहा, १९३५
१५ नन्दलाल चत्ता : कश्मीर की लोक-कथाएँ, १९५२
१६ निहालचन्द वर्मा : मारवाड़ी गीत, १९२२

१७ पृथ्वीनाथ चतुर्वेदी और हीरालाल सन्त : हमारे लोकगीत, एक आधार, १९५४
१८. मदनलाल वैश्य मारवाड़ी गीतमाला
१९. मन्मथराय : हमारे कुछ प्राचीन लोकोत्सव, इलाहाबाद, १९५१
२० मेनारिया : राजस्थानी गीतों की कहावतें
२१ रतनलाल मेहता : मालवी कहावतें, राजस्थान शोध संस्थान, उदयपुर
२२. रामइकबालसिंह 'राकेश' मैथिल लोकगीत, हि सा० स०, प्रयाग, संवत् १९९९
२३ रामनरेश त्रिपाठी : कविता कौमुदी (५वाँ भाग), हिन्दी मन्दिर प्रयाग, संवत् १९८९
२४ रामनरेश त्रिपाठी : हमारा ग्राम-साहित्य, १९४०
२५. ,, : ग्राम-साहित्य, भाग १, १९५१
२६ ,, : ग्राम-साहित्य भाग २, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली।
७ रामनरेश त्रिपाठी : मारवाड़ के मनोहर गीत, हि० मं०, प्रयाग, सं १९८७
८. रामनारायण उपाध्याय निमाड़ी लोकगीत, हि० सा० स०, बम्बई, १९४९
९ रामसिंह, पारीक, नरोत्तम स्वामी : ढोला मारू रा दूहा, काशी ना प्र स०, १९३१
० राहुल सांकृत्यायन आदि हिन्दी की कहानियाँ और गीतें, पटना, १९५२
३१ सत्यप्रकाश 'उरोरा' : बघेली लोकगीत, कविता (वि प्र०), १९५४
३२ ल जोशी : मेवाड़ की कहावतें, उदयपुर
३३ वासुदेवशरण अग्रवाल : पृथिवी पुत्र, दिल्ली, १९४९
३४ विद्यावती 'कोकिल' सोहागगीत, प्रयाग, १९५३
३५. शिवसहाय चतुर्वेदी : बुन्देलखण्ड की ग्राम्य-कहानियाँ

३६ शिवसहाय चतुर्वेदी : पाषाण नगरी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
३७ ,, : तोते की शिक्षा, पटना, १९५१
३८ श्यामाचरण दुबे : छत्तीसगढ़ी लोकगीतों का परिचय, १९४०
३९ श्याम परमार : मालवी लोकगीत, इन्दौर, सं० २००६
४० ,, : मालवी और उसका साहित्य, दिल्ली, १९५४
४१ ,, : मालवा की लोक-कथाएँ, दिल्ली, १९५४
४२ सन्तराम बी० ए० : पंजाबी गीत
४३ सत्येन्द्र : ब्रज की लोक-कहानियाँ, १९४०
४४ ,, : ब्रज-लोक-साहित्य का अध्ययन, आगरा
४५ सुकुमार पगारे : सन्त सिंगाजी, कलकत्ता, १९४९
४६ सूर्यकरण पारीक एवं गणपति स्वामी : राजस्थान के ग्रामगीत, भाग १, दिल्ली, १९३७
४७ सूर्यकरण पारीक एवं गणपति स्वामी : राजस्थानी लोकगीत, प्रयाग, १९३९
४८ सूर्यकरण पारीक एवं गणपति स्वामी : राजस्थान के लोकगीत (भाग १ २), कलकत्ता
४९ सूर्यकरण पारीक एवं गणपति स्वामी : राजस्थानी वेलि, कलकत्ता
५० श्रीचन्द्र जैन : विन्ध्यप्रदेश के लोकगीत, दिल्ली, १९५४
५१ ,, : विन्ध्यप्रदेश की लोक-कथाएँ, दिल्ली, १९५५

बंगला

१ अक्षयपुरीश : मनसा सम्मोहन
२ आशुतोष देवेर ग्रन्थावली
३ दत्त, महेन्द्रनाथ : रमणी भजन (भजगीत), १९३१
४ रामतीर्थ, धीरेन्द्र : भाषामाला विचार, १९३०
५ पायडुल कविली
६ बंगाल हरिनाथ : बाउल गान

७ बंगाल हरिनाथ : बारमासेर पुँथि
८ ,, : हिन्दुस्थानी ग्रामगीत
९ ,, : हिन्दुस्थानी लोकगीत
१० ,, : हासान उदास
११ कोविलास, अनिल : बांगलार प्राचीन काव्य, १९५०
१२ गुरुप्रसाद दत्त : पटुया संगीत
१३ गुप्त, रामप्राण (संग्रहकर्त्ता) : प्रवादमाला, १९१४
१४ गोरक्ष विजय, बंगीय साहित्य परिषद्
१५. चक्रवर्ती, काशीश्वर : राजा राममोहन
१६ चौधरी लौकिक धर्म ओ देवदेवी
१७ जसीमुद्दीन : नक्सी कांथार माठ
१८ ,, : रंगिला नायेर माझि
१९ ठाकुर, अवनीन्द्रनाथ : बांगलार व्रत
२० ,, : मीनचेतन, बंगीय सा परिषद्
२१ ठाकुर, रवीन्द्रनाथ : लोक साहित्य, १३१४ (बंगाब्द)
२२ ,, : छन्द
२३ ,, : शिक्षा
२४ तर्क वागीश, काशीनाथ (अनु) प्रवादमाला, १७८८ (शकाब्द
२५. दत्त, अक्षयकुमार : भारतीय उपासक सम्प्रदाय, २ भाग
२६ ,, : महानिर्वाण तन्त्र, बंगवासी संस्करण
२७ दत्त, भोलानाथ (प्रका) : डाकेर कथा, १-७ खण्ड, १३ ४
२८ दे सुशीलकुमार : बांगला प्रवाद, १९५२
२९ नाथ, शरच्चन्द्र : गाजन गान, १३४१ (बंगाब्द)
३० नाथ, राधागोविन्द : चैतन्य चरितामृत
३१ ,, : तारिकत तर्पण
३२. पालित, हरिदास : आद्येर गम्भीरा, १९१२
३३ प्राचीन पुँथिर विवरण, बंगीय साहित्य परिषद्

३४ भट्टाचार्य, आशुतोष : बंगाला मंगल काव्येर इतिहास, १९५१
३५ मजुमदार मोहितलाल : हेमन्त गोधूलि
३६ मनसुर उद्दीन हारामणि खण्ड १, १९३०
३७ " : हारामणि (लोक-संगीत-संग्रह), १९४२
३८ मारफती संगीत
३९ मित्र, दक्षिणारंजन : ठाकुर दादार झुलि
४ " : ठाकुर मार झुलि
४१ मुखोपाध्याय, दुर्गागति (संग्रहकर्ता) : डाक पुरुषेर कथा, १९११
४२ बसु, मनीन्द्रनाथ सहजिया साहित्य
४३ बन्द्योपाध्याय, चारुचन्द्र वैभविका
४४ बन्द्योपाध्याय, राखालदास : बांगलार इतिहास (१ २ भाग)
१९११ २४
४५ बन्द्योपाध्याय, मणिलाल : ब्रत कथापण, १९२२
४६ बंग भाषा ओ साहित्य (प्रथम संस्करण), १९५०
४७ सरस्वती, शीलानन्द : ब्रत कथा सार
४८ सरकार, पवित्र (अप्रकाशित) बाउल गान
४९ साहु लक्ष्मीनारायण रामदनाथ
५ सांमीविधी, कलकत्ता विश्वविद्यालय
५१ सेन, दीनेशचन्द्र : मयमनसिंह गीतिका (पूर्व बंग गीतिका)
५२ " : गोपीचन्द्रेर गान
५३ सेन सुकुमार : बंगला साहित्येर इतिहास (प्रथम खण्ड)
५४ सेन, क्षितिमोहन मध्ययुगे भारतीय साधनार धार (ब वि०)
५५ " : दादू (विश्वभारती)
५६ " : कबीर (विश्वभारती)
५७ सेन, गिरीशचन्द्र : तापसमाला
५८ हक, एनामुल : बंगे सूफी प्रभाव

गुजराती

१ आचार्य : कहीपथ ना गर्भा
२ अन्तिदास शाह : काश्मीर नी लोककथाओ
३ गुजराती विद्या सभा : रासमाला, अहमदाबाद
४ केशव प्रभाव (विवेचनात्मक)
५. झवेरचन्द मेघाणी : लोक-साहित्य
६ ,, : रढियाली रात (४ भाग)
७ ,, : चुन्दडी (२ भाग)
८ ,, : सौराष्ट्रनी रसधार (५ भाग)
९. ,, : सोरठी बहार वटिया (३ भाग)
१० दलाल : प्राचीन गुर्जर काव्य-संग्रह, १९२१
११ नर्मदाशंकर लालशंकर : नागर स्त्रियों मां गवातां गीत
१२ परकम्मा (विवेचनात्मक)
१३ परिभ्रमण (विवेचनात्मक)
१४ पंचोलीदार कालिका लौकिक रीतिरिवाजनो एकीकरण : विश्व-विमल, बड़ोदा
१५. पंड्या वाघजिभाई : श्री नागर ब्राह्मण जाति का रीति रिवाज
१६ मुन : उदासी पंखना गीत मणको
१७ मोद मगन : कविता (प्राचीन काव्यमाला), १८९०
१८ रणजीतराम मेहता : लोकगीत
१९. शाह, एम० एम० : ढोला मारू, बम्बई, १९५४

मराठी

१ अनसूया भागवत : जानपद गीतें
२ कमलाबाई देशपांडे : अपौरुषेय वाङ्मय अर्थात् स्त्री गीतें, पुणे, १९४८

३ कालेलकर व घोरपडे : साहित्याचें मूल्यांकन
४ मोरे, पा० म० : वऱ्हाडी लोकगीतें, यवतमाळ
५ मालती दांडेकर : लोक साहित्याचें लेणं, कुमकोंग, सतारा, १९५१
६ वि० का० जोशी : लोक-कथा व लोकगीतें
७ साने गुरु : स्त्री जीवन (दो भाग)

उर्दू

१ दीन महम्मद कुरेशी : पंजाब दे हीरे
२ रामशरण दास पंजाबी : पंजाब दे गीत, लाहौर
३ होतूराम : तिलोकीनाम, लाहौर, १८८१

पंजाबी

१ अमृता प्रीतम : पंजाब दी आवाज, नवयुग, दिल्ली, १९५२
२ विश्वचन्द्र लीला : अखली रंग-बरंगे गीत, अमृतसर, १९४६
३ देवेन्द्र सत्यार्थी : गिद्धा
४ मसताम : रत्नखान (कुब), अमृतसर, १९००
५ हरभजन सियानी : पंजाब दे गीत (देवनागरी), अमृतसर

पत्र-पत्रिकाओं में बिखरी सामग्री

—अवन्तिका (अगस्त, १९५३) : 'हिन्दी के साहित्य के इतिहास में लोक-साहित्य'—शिवनन्दन प्रसाद एम० ए०
—समन्या (अगस्त, १९५२) : 'आदिवासियों के प्रणयगीत'—श्यामाचरण विश्मूरवार
— ,, (जनवरी, १९५४) : 'भारतीय लोक-साहित्य का विकास'—त्रिलोक
— ,, (जनवरी, १९५४) : 'आन्ध्र देश की कविता और भावगीतों से उनका विकास'—वेंकटेश्वर शास्त्रालु

Russel R. V and Hiralal The Tribes and Castes o
Central Provinces of India 1916.
Rossetti, D G. Ballades of Fair Ladies
Ruth Sawyer The Way of Story Teller
Sarat Chandra Mitra A Note on the Nepalese belief,
Journal of B. & O R. S. Vol. XVII.
Sarat Chandra Mitra Styapira Legends in Santhali,
Guise, do, Vol. XIII.
Sapakar G. G. Marathi Proverbs, Poona, 1872.
Sen Gupta P P Dictionary of Proverbs, Calcutta,
1899
Sen, D. C. Eastern Bengal Ballads Mymen Sing
(Vol. I VI)
Sen D C. Folk literature of Bengal, 1920.
Glimpses of Bengal Life, 1925.
" History of Bengali Language, Cal. Univ
1911.
Shahidullah Les Chantes Mysteques.
Shakespheare J. Lushei Kuki Clan, 1912
Shaw W Notes on the Thandon Kukis (J. of A.S.
Vol. XXIV 1928, No I.) Calcutta, 1929
Sherraff, A. G. Hindi Folk Songs.
Slater G. Dravidian Elements in Indian Cult
1924.
Stack, E. The Mikirs 1908.
Temple R. C. The Legends of the Punjab 1885
Theothi, N. A. The Vaishnavas of Guzeral, 193
Thiselton Dyer : The Folklore of Plants, 1889
Thorenton, T S. Handbook of Lahore.
Thurston E. and Rangachari, K Castes and Tri
Southern India Madras, 1909.
Tod Annals and Antiquities of Rajasthan, C

1920.
Toru Dutta Ancient Ballades and Legends of Hindusthan, 1882.
Trisle C. P Origin of Religion.
Tylor E. B. Primitive Culture 1903
Early History of Mankind 1865
Vasu N N Modern Buddhism in Orissa, Calcutta, 1911.
Venkataswami, M. N The Folk tales of C. P in Indian Antiquary Nos. 24, 25, 26, 28, 30 31, 32.
Waddel Lamanism
Wilson H H Religious Sects of the Hindus (Trubner 1862)
Yusuf Hussain Mystic India in Middle Ages.

Russel, R. V and Hiralal The Tribes and Castes of Central Provinces of India, 1916.

Russetti, D. G. : Ballades of Fair Ladies

Ruth Sawyer The Way of Story Teller

Sarat Chandra Mitra A Note on the Nepalese belief. Journal of B & O R. S Vol. XVII.

Sarat Chandra Mitra *Styapira Legends in* Santhali Guise, do Vol. XIII.

Sapekar G. G. Marathi Proverbs, Poona, 1872.

Sen Gupta, P P Dictionary of Proverbs, Calcutta. *1899*

Sen, D C. Eastern Bengal, Ballads, Mymen Sing. (Vol. I VI)

Sen, D C. Folk literature of Bengal, 1920.

" Glimpses of Bengal Life, 1925

History of Bengali Language, Cal. Univ 1911.

Shahidullah Les Chantes Mysteques.

Shakesphere, J Lushei Kuki Clan, 1912.

Shaw W Notes on the Thandon Kukis (J of A.S.B., Vol. XXIV 1928 No. I.) Calcutta, 1929

Sherreff A. G. *Hindi Folk Songs.*

Slater G. Dravidian Elements in Indian Culture, 1924.

Stack, E. The Mikirs 1908.

Temple, R. C. The Legends of the Punjab, 1885.

Thoothi, N A. The Vaishnavas of Guzeral, 1935.

Thiselton Dyer The Folklore of Plants. 1889.

Thoreston, T S. *Handbook of Lahore.*

Thurston E. and Rangachari, K Castes and Tribes of Southern India, Madras, 1909

Tod Annals and Antiquities of Rajasthan, Oxford.